हिंदुस्तानी

[त्रैमासिक]

प्रधान संपादक

डॉ० माताप्रसाद गुप्त, एम० ए०, डी०लिट्०

सहायक संपादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, एम० ए०, डी०फिल्०



[भाग २२ : अंक १]

जनवरी-मार्च

१९६१

वार्षिक
१० रुपए

हिन्दुस्तानी एकेडेमी
उत्तर प्रदेश - इलाहाबाद

एक प्रति
२.५० नए पैसे

मुद्रक
रामप्रताप त्रिपाठी, शास्त्री
सम्मेलन मुद्रणालय, इलाहाबाद

'पदमावत' मे अर्थ की दृष्टि से विचारणीय कुछ स्थल

[छद ४९ १४८]*

डॉ० माता प्रसाद गुप्त

जायसी का 'पदमावत' हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य में अनेक कारणों से एक अत्यन्त विशिष्ट स्थान रखता है, किन्तु उसी प्रकार अनेक कारणों से इसका अध्ययन उस ढंग से नही किया जा सका था जैसा इस महान् कलाकृति के लिए अपेक्षित था। इन में से एक बड़ा कारण इसके पाठ की अव्यवस्था थी। इसकी उलझी हुई पाठ-परंपरा के कारण विभिन्न संस्करणो ही नहीं प्रतियों में भी प्राप्त पाठ मूल से इतना दूर हो गया था कि बहुधा वह या तो निरर्थक और या तो अस्त-व्यस्त हो गया था। प्रायः दस वर्ष पूर्व इसी दृष्टि से 'जायसी-ग्रथावली' (हिंदुस्तानी एकेडेमी, प्रयाग) को प्रस्तुत करते हुए इसके पाठ की समस्या को लेखक ने सुलझाने का एक प्रयास किया था, जिसने अपनी सीमाओं के होते हुए भी जायसी के अध्ययन को पिछले दस वर्षों में कुछ न कुछ आगे बढ़ाया है। इसी प्रकार का दूसरा कारण 'पदमावत' की एक ऐसी सर्वांगीण टीका का अभाव था जो ऐतिहासिक और भाषा-वैज्ञानिक पद्धति पर उसकी भाषा का विश्लेषण करते हुए जायसी की उक्तियों के आशय को सुलझा कर प्रस्तुत करती। इस अभाव की पूर्त्ति पाँच वर्ष हुए डॉ० वासुदेव शरण अग्रवाल ने 'पदमावत' की संजीवनी व्याख्या (साहित्य सदन, चिरगाँव) प्रस्तुत करके की। 'पदमावत' पर टिप्पणियाँ और टीकाएँ पहले भी थीं, किन्तु ऐतिहासिक और भाषा-वैज्ञानिक पद्धति पर प्रस्तुत की गई 'पदमावत' ही नहीं कदाचित् हिन्दी के किसी भी प्रमुख ग्रथ की यह पहली टीका थी। इसने अवश्य ही जायसी के अध्ययन को बहुत आगे बढ़ाया है, और इसके लिए हमें डॉ० अग्रवाल का कृतज्ञ होना चाहिए।

जिस समय मैंने 'जायसी ग्रन्थावली' का संपादन किया था, उस समय मुझे उसके पाठो को सुलझाने में जहाँ प्रतियों के बहिर्साक्ष्य पर विचार करना पड़ा था, वहाँ रचना के अर्थ-विषयक अन्तर्साक्ष्य पर भी ध्यान देना पड़ा था। इधर कुछ अवकाश मिलने पर मैंने 'पदमावत' के अर्थ के संबध में और विस्तार से विचार किया है। मेरे अर्थ अनेक स्थलो पर प्राप्त टीकाओं-टिप्पणियो मे दिए हुए अर्थों से कुछ भिन्न हैं, अतः मैं प्रस्तुत लेख में 'पदमावत' के एक सौ छंदों में आने वाले ऐसे स्थलों के सम्बन्ध में अपने विचार 'पदमावत' के पाठकों के विचारार्थ प्रस्तुत करना चाहता हूँ। यह संभव नहीं है और न आवश्यक ही है कि इस विवेचन में सभी टीकाओं-टिप्पणियों का उल्लेख करूँ; केवल डॉ० अग्रवाल की टीका का उल्लेख करूँगा जो कि एकमात्र ऐसी टीका

---

* इसके पूर्व के पचीस छंदों के संबंध के कुछ स्थलों का विवेचन बिहार राष्ट्र भाषा परिषद की परिषद् पत्रिका' में   है।

है जो जैसा ऊपर कहा जा चुका है ऐतिहासिक और भाषा-वैज्ञानिक दृष्टि से प्रस्तुत की गई है

(१) ५०.१ : 'चंपावति जो रूप उतिमाहाँ'।
पदुमावति कि जोति मन छाहाँ।

डॉ० अग्रवाल ने प्रथम पंक्ति का अर्थ किया है : चंपावती उत्तम स्त्रियों में रूपिणी (चांदी) है पद्मावती रूप ज्योति (सुवर्ण) की छाँह उसके मन में पड़ी है। इस अर्थ में प्रकट है कि 'उतिमाहाँ' का अर्थ 'उत्तम स्त्रियों में' और 'रूप' का 'रूपिणी (चाँदी)' किया गया है। मेरा विचार है कि 'उतिमाह' <उत्तमाह<उत्तम+आह='उत्तम दिन' है, और 'रूप' अपने सामान्य अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। अर्थ होना चाहिए : चंपावती जो [अपने] रूप के उत्तम (सर्वोत्कृष्ट) दिनों में थी, उसका कारण यह था कि उसके मन की छाया में पद्मावती की ज्योति [भासित होने लगी] थी।

(२) ५०.२ : मैं चाहे असि कथा 'सलोनी'।
मेंटि न जाइ लिखी जसि होनी।

'सलोनी' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने चाँदी मिले हुए सोने को शुद्ध करने की क्रिया-विशेष किया है, और टिप्पणी में बताया है, "सोने में से चाँदी की मिलावट साफ करने के लिए सोने को पीट कर उसके पत्तर बनाते हैं और उन पत्तरों को कण्डे की राख, ईंटों की बुकनी, सांभर नमक और कड़ुवे तेल की सलोनी में डुबो कर कंडे की आँच में कई बार तपाते हैं, जिससे वह सलोनी चाँदी को खा लेती है और सोना शुद्ध हो जाता है।" मेरा विचार है कि 'सलोनी' का ऐसा कोई अर्थ संगत नहीं हो सकता है जिसमें चाँदी के—जिसे डॉ० अग्रवाल ने चंपावती माना है—सोने के द्वारा—जिसे डॉ० अग्रवाल ने पद्मावती माना है—खा उठने की ध्वनि हो। यदि कथा में पद्मावती के जन्म के अनंतर ही चंपावती के मरण की बात आती होती, तो यह अर्थ संगत माना जा सकता था। मेरी समझ में 'सलोनी' का सामान्य अर्थ : सलोन<स+लवण=सलावण्य, सुन्दर ही यहाँ सगत है, यथा :

बाँहन्ह बाँहू टाड सलोनी। (२९९.५)
हौं साँवरि सलोनि सुभ नैना। (४४३.२)

(३) ५०.६ : जस 'औधान' पूर होइ तासू।
दिन दिन हिऐं होइ परगासू।

'औधान' के संबंध में डॉ० अग्रवाल की टिप्पणी है : औधान—सं० आधान (गर्भाधान) >अवधान (वकार प्रश्लेष) >औधान। मेरी समझ में 'अवधान' एक भिन्न शब्द है, वह 'आधान' से बना हुआ नहीं है : एक √धा के पूर्व 'आ' जोड़ने से और दूसरा √धा के पूर्व 'अव' लगाने से बना है। दोनों के अर्थों में अवश्य अंतर साधारण है।

(४) ५२.८–९ : रामा आइ अजोध्याँ उपने (उपनी?) लछन बतीसौ अंग।
रावन 'राइ' रूप सब भूलै दीपक जैस पतंग॥

'राइ' के संबंध में डॉ० अग्रवाल की टिप्पणी है : राइ—राना धातु=रमण करना (बुल्के, राम कथा पृष्ठ ५३ इस प्रकार 'राइ' का अर्थ डॉ० अग्रवाल के अनुसार हुआ 'रमण करके'

किन्तु यह अर्थ संगत नहीं है, सीता के साथ रमण करने की संभावना राम के लिए विवाह के अनंतर और रावण के लिए सीता-हरण के अनंतर ही हो सकती थी, और यहाँ पर प्रसंग इस प्रकार के संयोग के पूर्व ही किसी रमणी के रूप पर दीपक के ऊपर पतिंगे के समान किसी प्रेमी के सब-कुछ भूल बैठने का है। मेरी समझ में यह 'राइ' <रागिन्=प्रेमी है, जो प्रसंग-सम्मत भी है।

(५) ५७.८–९: मारै सोइ 'निसोगा' डरै न अपने दोस।
केला केलि करै का जौं भा बैरि परोस॥

'निसोगा' पर डॉ० अग्रवाल की टिप्पणी है: निसोगा=बेफिक्र, निश्चिन्त, परलोक या धर्मकार्य से बेखबर, जिसे अपने पापों का शोक या चिन्ता नहीं, यथा: हिआ निसोगा जाग न सोई। (४२.७)। किन्तु मेरी समझ में यह निसोग <णिस्सूग<निःशूक=निष्करुण, निष्ठुर है; वह मारता ही इस-लिए है कि निष्करुण है यदि वह निष्करुण न होता तो न मारता। अपने दोष से डरने की बात भी इसी का समर्थन करती है। शोकहीन होने की बात कहकर दोष या पाप से न डरने की बात कहना युक्तियुक्त नहीं प्रतीत होता है।

(६) ५९.४: कोइ सु गुलाल सुदरसन राती।
कोइ बकौरि 'बकचुन' विहँसाती।

'बकचुन' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'गुच्छों' किया है। यह अर्थ उन्होंने किस प्रकार किया है, यह यहाँ नहीं कहा है, किन्तु ३७७.५ में यह शब्द पुनः आता है और वहाँ टिप्पणी दी है: छोटी गठरी या गुच्छा; यथा जाही जूही 'बकचुन' लावा। (३५.६)। किन्तु 'गठरी' अर्थ वाला अवधी शब्द 'बकुचा' <बोग़चः (फ़ा०) है, और 'बकुचा' या 'बोगचा' से 'बकचू' और उसका बहु० 'बकचुन' नहीं हो सकता है। मेरे विचार से यह बकचुन<मचकुन्द<मुचुकुन्द है, जो एक प्रसिद्ध भारतीय पुष्प रहा है, और उपर्युक्त तीनों स्थलों पर इसी अर्थ में आया है। 'म' का 'ब' में इस प्रकार का ध्वनि-परिवर्तन साधारण है: यथा, बोलसिरी अथवा बोलसरि<मौलिश्री (३५.७, ५९.५, ३७७.६)।

(७) ६३.८–९: मुहमद 'बारि' परेम की जेउँ भावै तेउँ खेल।
तीलहि फूलहि संग जेउँ होइ फुलाएल तेल॥

डॉ० अग्रवाल ने प्रथम पंक्ति का अर्थ किया है: 'प्रेम के जल में जैसा मन भावै वैसा खेलो।' 'बारि' ='जल' संस्कृत और प्राकृत में नपुंसक लिंग शब्द रहा है और हिन्दी में पुंल्लिंग, यथा:

मरिबे को बारानसी बारि सुरसरि को।—तुलसी

और यहाँ पर 'बारि परेम की' कहा गया है, जिससे यह प्रकट है कि यह 'बारि' स्त्रीलिंग है। मेरी समझ में यह 'बारि' 'बारी' है, जो जायसी में अन्यत्र भी इसी प्रकार आया है, यथा:

घरी सो बैठि गनै घरिआरी।
पहर पहर सो आपनि बारी ४२ २

इस 'बारी' का अर्थ 'फेरा' या 'अवसर' है, और यह 'वेला' से व्युत्पन्न है। अतः मेरे विचार से विवेच्य प्रथम पंक्ति का अर्थ होगा : मुहम्मद कहते है, प्रेम [के खेल] की बारी ऐसी होती है कि जिस प्रकार चाहे उसे खेल ले।

(८) ६४.३: कत खेलै आइउँ एहि 'साथा'।
हार गँवाइ चलिउँ सै हाथाँ।

डॉ० अग्रवाल ने प्रथम पंक्ति का अर्थ किया है; क्यों मैं इनके साथ खेलने आई? किन्तु यहाँ 'साथ' < सार्थ=टोली, जन-समुदाय अर्थ में प्रयुक्त लगता है, और 'एहि साथा' का अर्थ होगा 'इस सार्थ (टोली) में'।

(९) ७१.३: सुख 'कुरिआर' 'फरहरी' खाना।
विष या जबहिं बिआध तुलाना।

डॉ० अग्रवाल ने 'कुरिआर' का अर्थ 'कुरलना, शब्द करना' और 'फरहरी' का 'फलाहार या फल-फूल (फलपुष्प>फल हुल्ल>फरहुरि)' किया है। किन्तु मेरा विचार है कि कुरिआर<कुल्ल+आर<कूर्द+जाल=कूद-फाँद है, और फरहरी<फल+फली है; अर्थ होगा 'सुख की कूद-फाँद थी और फल-फलियों को खाना था'।

(१०) ७१.४-५: काहे क भोग बिरिख अस फरा।
'अड़ा' लाइ पंखिन्ह कहँ धरा।
होइ निचित बैठे तेहि 'अड़ा'।
तब जाना खोंचा हिय गड़ा।

'अड़ा' का अर्थ पक्षियों के बैठने का अड्डा करते हुए डॉ० अग्रवाल ने टिप्पणी में लिखा है 'अहे-लिए अड्डे पर लासा लगाकर उसे हरी डालों से ढक कर खड़ा कर देते है, पक्षी उसे वृक्ष समझ-कर उस पर आ बैठते हैं और फँस जाते हैं।' किंतु लासा खोंचे में लगाया जाता है :

पाँच बान कर खोंचा लासा भरे सो पाँच।
पाँख भरे तनु अरुझा कत मारे बिनु बाँच॥ (६१.८-९)

और कथा में ऐसे अड्डे पर बैठने का उल्लेख भी नहीं होता है : छंद ६९ में जहाँ हीरामन के फँसाए जाने का वर्णन किया गया है, कहा गया है कि उसने और पक्षियों के साथ देखा कि एक तरुवर चला आ रहा था, और पक्षी तो जिससे भयभीत होकर उड़ गए किन्तु हीरामणि उसकी [फलवती] शाखाओं को देखकर फूल उठा और आकर उस वृक्ष पर बैठ गया; इसी समय लासे से लिप्त खोंचा चुभाकर व्याध ने उसे फँसा लिया। प्रकट है कि प्रसंग में 'अड़ा' से तात्पर्य वृक्ष के रूप में बनी हुई उस टट्टी से है जिसे व्याध ने हरी-भरी डालियों से तैयार किया था। अतः मेरी समझ में यह है 'अड़ा'<अड्ड [दे०]=आड़, जो पदार्थ आड़े आता हो। 'टट्टी की आड़ में शिकार' की लोकोक्ति इसी प्रक्रिया की ओर संकेत करती है।

(११) ७१.६: सुखी चित जारब धन करना।
यह न चिंत आगे है मरना।

'करना' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'कर्तव्य' किया है, किन्तु मेरा विचार है कि यह 'करन' <करण= साधन, जीविका का साधन है। 'धन ज़ोड़ना' 'कर्तव्य' नहीं माना गया है, इसलिए वह प्रसंग-सम्मत नहीं प्रतीत होता है।

(१२) ७२.५: भै बिआधि तिस्ना सँग 'खाधू'।
सूझै भुगुति न सूझ बिआधू।

प्रथम पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है: 'खानेवाले के साथ तृष्णा, यही सारा रोग है', और टिप्पणी में लिखा है: खाधू—सं० खादुक =भोजन खानेवाला। किन्तु खाधू< खादुक=दुःखदायक, कष्टकारक, उत्पीड़क है, भोजन खानेवाला नहीं और प्रथम पंक्ति का अर्थ कदाचित् होगा, 'तृष्णा के साथ हमें यह दुःखदायक व्याधि भी हुई कि......'।

(१३) ७४.७: लाख करोरन्हि बस्तु बिकाई।
सहसन्हि केर न कोइ 'ओनाई'।

'ओनाई' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'सौदा झुकला (या पटता) था' किया है। किन्तु यह 'ओनाना' भिन्न है, इसका अर्थ है सुनना, या ध्यान देना। अर्थ होगा 'सहस्रों' को तो कोई सुनता ही नहीं था, अथवा सहस्रों पर कोई ध्यान ही न देता था। 'कोइ' से इस अर्थ की पुष्टि होती है: यदि 'ओनाना' सौदा पटने के लिए प्रयुक्त होता, तो 'कोई' के स्थान 'कुछ' या उसका कोई समानार्थी होता, 'कोई' व्यक्ति के लिए ही व्यवहृत होता है। 'ओनाना' का यह प्रयोग अन्यत्र भी मिलता है:

सप्त दीप के बर जो 'ओनाहीं'।
उतर न पावहि फिरि फिरि जाहीं। (५३.७)
करहिं पयान भोर उठि नितहि कोस दस जाहिं।
पंथी पंथां जे चलहिं ते का रहन 'ओनाहिं'॥ (१३६.८–९)

(१४) ७६.३: सुआ को पूँछ पतिंग 'मँदारे'।
चलन देखि आछै मन मारे।

प्रथम पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है: 'पर वहाँ सुग्गे को कौन पूछे जो मदार के पेड़ का एक पतिंगा मात्र है?', और टिप्पणी में कहा है: पतिंग मदारे—मदार के पेड़ के पतिंगे की भाँति तुच्छ, अथवा मदार पर लगने वाले भुए के सदृश आकार वाला तुच्छ कीड़ा। किन्तु मेरा विचार है कि 'मँदारा' <मंद+आरअ<मन्द+कारक=अनभला करने वाला है। ठीक इसी अर्थ में आगे कवि ने 'मँदचाला' शब्द का प्रयोग किया है:

देखु यह सुअटा है मँदचाला।
भएउ न ताकर जाकर पाला। (८५.५)

मदार के पेड़ से सुग्गे का कोई संबंध नहीं सुना जाता है

१५) ७६ ४ ५ बाँभन आइ सुआ सौं पूछा
दहु गुनवत कि निरगुन छूछा।
कहु परबते जो गुन तोंहि पाहाँ।
गुन न छिपाइअ हिरदै माहाँ।

'सौं' का अर्थ सम्मुख लेते हुए डॉ० अग्रवाल ने इन पंक्तियों का अर्थ किया है: इतने में ब्राह्मण ने सुग्गे के सम्मुख आकर पूँछा, 'यह गुणवन्त है, अथवा निर्गुण और कोरा मूर्ख है? हे पक्षी, तुममें जो गुण हों बताओ; गुण को अपने भीतर ही न छिपा रखना चाहिए।' मेरा विचार है कि सौं < समम्=साथ, से है; और अर्थ होगा : [इसी समय] ब्राह्मण ने [वहाँ] आकर सुए से यह समझने के लिए कि वह गुणवान है अथवा निर्गुण, यह प्रश्न किया, "ऐ सुए, जो गुण. . . . .।" डॉ० अग्रवाल के किए हुए अर्थ मे यह नहीं आता है कि ब्राह्मण ने सुए के सम्मुख किससे प्रश्न किया, और उसने क्या उत्तर दिया, अथवा उसके उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही उसने पुनः सुए से कैसे कुछ कहना प्रारंभ कर दिया।

(१६) ७७.२ : अब गुन कवन जो बँदि जजमाना।
घालि मँजूसा बेंचै 'आना'।

डॉ० अग्रवाल ने इन पंक्तियों का अर्थ किया है; अब मुझमें गुण कहां जो किसी जजमान का बंदी हूँ, जो मुझे पिटारी में डालकर बेचने लाया है? मेरी समझ मे 'जजमान' पुण्यात्मा' इत्यादि का प्रयोग संबोधन के रूप में उस ब्राह्मण के लिए शुक ने किया है जो प्रश्न कर रहा था, और 'आना' का अर्थ 'लाया' नहीं बल्कि 'अन्य' अर्थात् 'व्याध' है। अर्थ होगा : अब मुझमें कौन सा गुण [शेष] है जब कि हे जजमान (पुण्यात्मा), मैं बंदी हूँ और मुझे मंजूषा में डालकर अन्य [कोई] बेंच रहा है?

(१७) ७८.२ : कत रे निठुर जिउ बधसि परावा।
हत्या केर न तोहि डर आवा।
कहेसि 'पंखि खाधुक मानवा'।
निठुर ते कहिअ जे पर मँसुखवा।

डॉ० अग्रवाल ने उपर्युक्त तृतीय-चतुर्थ पंक्तियों का अर्थ किया है: व्याध ने उत्तर दिया, 'पक्षियों के खाने वाले तो मनुष्य हैं, अतएव उन्हें निष्ठुर कहो जो पराया मांस खाते हैं (मैं तो केवल उन्हें पकड़ने वाला हूँ)। टिप्पणी में उन्होंने कहा है: खाधुक—सं० खादुक (खानेवाला) > खाधुक, खाधू (७२.५)। खाधुक <खादुक तक तो ठीक है, किन्तु खादुक= उत्पीड़क, दुःख-दायक है, जैसा ऊपर हमने ७२.५ में भी देखा है, 'खानेवाला' नहीं। 'खानेवाला' के अर्थ में खादक' है और 'उत्पीड़क' के अर्थ में 'खादुक' है (देखिए मोनियर विलियम्स कृत 'संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी')। अतः मेरे विचार से 'पंखि खाधुक मानवा' का अर्थ होगा 'पक्षियों का उत्पीड़क वह मानव', अर्थात् 'व्याध'; और यही 'कहेसि' क्रिया का कर्त्ता है; 'व्याध' को अन्यत्र से लाने की आवश्यकता नहीं है।

(१८) ८६.५ : नागमती नागिनि बुधि 'ताऊ'।
सुआ मँजूर होइ नहिं काऊ।

'ताऊ' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'उसकी' किया है, किन्तु 'उसकी' के लिए 'ताही' होता। ताऊ< ताव<तावत्=तब, उस समय है। अतः प्रथम पंक्ति का अर्थ होगा: नागमती उस समय [जिस समय उसने सुए को मारने के लिए कहा] नागिन की बुद्धि की [हो रही] थी।

(१९) ८९.३ 'एतनिक 'दोस बिरचि' पिउ रूठा।
जो पिउ आपन कहै सो झूठा।

'दोस बिरचि' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'अपराध करने से' किया है, किन्तु 'दोस बिरचि' का अर्थ कदाचित् 'दोष [हुए होने] की कल्पना करके' लेना चाहिए।

(२०-२१) ८९.८–९ : मैं पिय प्रीति भरोसे गरब कीन्ह जिय माँह।
तेहि रिसिहौं 'परहेलिउँ' 'निगड़' रोस किअ नाँह।।

डॉ० अग्रवाल ने दूसरी पंक्ति का अर्थ किया है: उस ईर्ष्या के कारण मुझे तिरस्कृत होना पड़ा; स्वामी ने मुझ पर अत्यधिक क्रोध किया है। किन्तु 'परहेलिउँ' =तिरस्कृत हुई नहीं है, बल्कि 'परहेलिउँ'=प्रहेला की, तिरस्कार किया है।

उपर्युक्त पंक्तियों के 'निगड़' के संबंध में टिप्पणी देते हुए डॉ० अग्रवाल ने लिखा है: निगड़ =निःसीम, अमर्यादित, अत्यधिक: सं० निर्ग्रथित> निगड्डिय>निगड़। किन्तु 'निगड़' <सं० निगड=बेड़ी है। इस प्रकार मेरी समझ में दूसरी पंक्ति का अर्थ होना चाहिए: उसी [गर्व के] आवेश में मैंने [स्वामी की] प्रहेला की तो नाथ ने [मेरे पैरों में] रोष की बेड़ी डाल दी।

(२२) ९४.५ : सुनि सो समुंद चखु भे 'किलकिला'।
कँवलहि चहौं भँवर होइ मिला।

'किलकिला' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'किलकिला समुद्र' किया है, जिसका वर्णन आगे छंद १५५ में आया है, और प्रथम पंक्ति का अर्थ किया है: समुद्र तुल्य उस पद्मावती का वर्णन सुन कर मेरे नेत्र भी किलकिला समुद्र की भाँति क्षुब्ध हो गए। किन्तु 'समुद्र' की बात सुनकर किलकिला समुद्र होना युक्ति-युक्त नहीं लगता है। मेरी समझ में यह 'किलकिला' 'किलकिल' =समुद्र की हिलोर है, जिसके आधिक्य के कारण ही आगे छंद १५५ में एक समुद्र को इसी नाम से अभिहित किया गया है:

पुनि किलकिला समुँद महँ आए।
किलकिल उठा देखि डरु खाए।
गा धीरज वह देखि हिलोरा।
जनु अकास टूटै चहुँ ओरा (१५५ १ २)

(२३) ९५.७ :　वह खंड के बर जो 'ओनाही'।
　　गरबन्ह राजा बोलै नाहीं।

'ओनाहीं' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है 'आकर झुकते हैं', किन्तु 'ओनाना' एक ठेठ अवधी धातु है जिसका अर्थ होता है सुनना, सुनकर आना, सुनकर आदेश का पालन करना, और इसी अर्थ में यह धातु 'पदमावत' में भी प्रयुक्त हुई है, यथा :—

करहि पयाल भोर उठि नितहि कोस दस जाहिं।
पंथी पंथाँ जे चलहिं ते का रहन 'ओनाहिं'॥ (१३६.८–९)

[देखिए ऊपर आई हुई ७४.७ विषयक टिप्पणी भी।]

(२४-२५) ९९.५ : कोंवल कुटिल केस नग कारे।
　　लहरन्हि भरे भुअग 'बिसारे'।

डॉ० अग्रवाल ने 'नग' का अर्थ 'नाग' और 'बिसारे' का 'विषधर' किया है, किन्तु मेरी समझ में नग<नग्ग<नग्न है। 'नाग' के अर्थ में 'भुअंग' तो बाद में सादृश्य-कल्पना में आता है। इसी प्रकार 'बिसारे' मेरी समझ में <विषाक्त अथवा विषालु है, 'विषधर' के अर्थ में तो 'भुअग' आता ही है। 'विषधर' के लिए जायसी सर्वत्र 'बिसहर' का प्रयोग करते हैं।

(२६) ९९.८–९ : अस फँदवारे केस वै राजा परा सीस गियँ फाँद।
　　अस्टौ कुरी नाग 'ओरगाने' भै केसन्हि के बाँद॥

'ओरगाना' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'अधिपति' किया है। ओरग<ओलग्ग<अव + लग्—सेवा करना, चाकरी करना है (पाइअ सद्द महण्णवो)। इसी धातु से बने हुए 'ओलग्ग' और 'ओलग्ग' <अवलग्न हैं, जिनका अर्थ सेवक, नौकर है (पा० स० म०)। इसी 'ओलग्ग' से 'ओलग्गाना' उसी प्रकार बना है जैसे 'तिलंगा' से 'तिलंगाना'। अवधी में —'आना' या 'आन' का ऐसा प्रयोग व्यापक रूप से मिलता है, यथा 'जुलाहा' से जुलाहान, या जोलहाना, 'पासी' से पसियान या पसियाना, 'तुर्क' से तुरकाना। अतः 'ओरगाना' से आशय 'भृत्य-समुदाय' से है।

(२७) १०२.२ :　उहै धनुक उन्ह भौंहन्ह चढ़ा।
　　केइँ 'हतियार' काल अस गढ़ा।

'हतियार' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'हथियार' किया है, किन्तु यह हत्यारा<हत्याकारक है। इसका स्त्रीलिंग रूप 'हत्यारिनि' अन्यत्र आया है :

'हत्यारिनि' हत्या लै चली। (१३६.२)
वह हत्यारिनि नखतन्ह भरी। (४८२.७)

(२८) १०३.१ :　नैंन बाँक सरि पूज न कोऊ।
　　मान समुँद अस 'उलथहि' दोऊ

'उलथहिं' का अर्थ डा० अग्रवाल ने 'उलीचते हैं' किया है मेरी समझ में 'उलथना' [<उल्लस्त] होना है और उल्लत्थ<उल्लस्त [√उत्+लस्]=ऊपर आया हुआ, बाहर निकला हुआ है, अतः 'उलथहिं' का अर्थ होगा 'ऊपर उठते हैं,' यथाः

उठहिं तुरंग लेहिं नहिं बागा।
चाहहिं 'उलथि' गगन कहँ लागा। (१०३.३)

(२९) १०३.७ : समुँद हिंडोर करहिं जनु झूले।
खंजन 'लुरहिं' मिरिग जनु भूले।

'लुरहिं' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'लोटते हों' किया है, किन्तु यह लुर<लुल्=लोल होना, चंचल होना है। खंजनों का लोटना नहीं, उनकी चंचलता ही नेत्रों के प्रसंग में वर्णित होती है।

(३०) १०४.३ : वारहिं पार बनावरि साँधी।
जासौं हेर लाग 'बिख बाँधी'।

'बिख बाँधी' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है: विष के कारण ऐंठन, विष बुझे वाणों के घाव की अत्यन्त पीड़ा युक्त ऐंठन: सं० बन्धिका>बधिआ>बाँधी=अंगों की जकड़न, ऐंठन। किन्तु बरौनियों के प्रसंग में मेरी समझ में यह 'विष बाँधी' यहाँ उसी प्रकार आया है जिस प्रकार उन्हीं के प्रसंग में अन्यत्र 'बिख बाँधे' आया है:

भौहैं धनुक नैन सर साँधे।
काजर पनच बरुनि बिख बाँधे। (६१९.४)

और यह 'बाँधी'<बन्धित=संश्लिष्ट, संयुक्त है। यह विवेचनीय स्थल पर 'बनावरि' का विशेषण मात्र है। उद्धृत पंक्तियों का अर्थ होगा: इस पार से उस पार तक [बरौनियों की] वाणावली साँधी हुई है, और जिसके सम्मुख वह देखती है, उसी से वह विष-संश्लिष्ट [वाणावली] लग जाती है।

(३१) १०५.१ : नासिक खरग देउँ केहि जोगू।
खरग खीन ओहि बदन 'सँजोगू'।

डॉ० अग्रवाल ने 'सँजोगू' का अर्थ 'तुलना' करते हुए दूसरी पंक्ति का अर्थ किया है: उसके मुख की तुलना में हीन उतरने के दुःख से ही तलवार कृश रहती है। किंतु विचारणीय यह है कि मुख की तुलना तलवार से नहीं की जाती है। यहाँ प्रसंग नासिका का है, जिसकी तुलना खड्ग से की जाती है; अन्यत्र भी नासिका की तुलना खड्ग से हुई है, यथा:

नासिक खरग हरे धनि कीरू। (४७५.१)

इसलिए मेरी समझ में यहाँ 'संयोग' का सामान्य अर्थ 'सम्बन्ध' ही करना चाहिए और दूसरी पंक्ति का अर्थ करना चाहिए: उसे (नासिका को) उसके [सुन्दर] वदन (मुख) का संयोग प्राप्त है यह देखकर खड्ग क्षीण [रहता है

(३२) १०५ ४ सुआ सो नाक कठोर 'पवारी'
बह कावलि तिल पुहुप सवारी।

'पँवारी' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'लुहार की छेद करने की सुम्मी' किया है। प्रसंग यहाँ छिद्र करने का नहीं है, यहाँ तो प्रसंग स्पर्श की कठोरता तथा कोमलता का है: शुक की नाक कठोर होती है और यह कोमल है। मेरी समझ में यह पँवारी<पवालीय– मूँगे की है। शुक की नासिका प्रवाल के समान लाल और कठोर होती ही है।

(३३) १०५.२ : सूक आइ 'बेसरि' होइ उआ।

'बेसरि' को डॉ० अग्रवाल ने टिप्पणी में सं० द्वयस्र (द्वि+अस्र)>बेसर बताते हुए कहा है: सूत्र में बेसर मन्दिरों के उस भूमितल के लिए प्रयुक्त होता था जो आयत या वृत्ताकार न होकर चैत्य-घरों की भाँति एक ओर से गोल और एक ओर से द्वयस्र या दो कोने वाला होता था। किन्तु बेसर मे एक भी कोना नहीं होता है। मेरी समझ में बेसरि<द्वि+स्रगिका है। बेसर में दो वृत्त होते हैं, एक बाहर का वृत्त और दूसरा अंदर का वृत्त, और दोनों वृत्तों की परिधियाँ ऊपर मिलती हुई होती हैं तथा नीचे आते हुए एक-दूसरे से अधिक-से-अधिक दूर होती जाती हैं। इसीलिए 'द्विस्रगिका' नाम पड़ा हुआ ज्ञात होता है। यही स्रग>सर 'नौसर हार' में भी अन्यत्र आता है।

(३४) १०८.८–९: भावसती ब्याकरन 'सरसुती' पिंगल 'पाठ' पुरान।
बेद भेद सैं बात कह तस जनु लागहि बान।।

इन पंक्तियों का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है: भास्वती ज्योतिष, व्याकरण, पिंगल और पुराणों (धर्मग्रन्थों) के पाठ में वह साक्षात् सरस्वती के समान है; वेद के रहस्य के विषय में अपनी ओर से ऐसे वचन कहती है कि सुनने वाले के हृदय में बाण जैसे चुभ जाते हैं। मेरी समझ में 'सरसुती' से कवि का तात्पर्य उस समय के बहुपठित अलंकार-ग्रंथ 'सरस्वती कण्ठाभरण' से है, और 'पाठ' से आशय शास्त्र या आगम से है (पा० स० म०)। दोनों पंक्तियों का अर्थ होगा: भास्वती (ज्योतिष), व्याकरण, सरस्वती कण्ठाभरण (अलंकार), पिंगल, शास्त्रों, पुराणों और वेदों के भेद की बातें वह स्वयं (अपने आप) इस प्रकार कहती है कि मानो सुनने वालों को बाण लगते हों।

(३५) १०९.५: अगिनिबान तिल जानहुँ 'सूझा'।
एक कटाख लाख दुइ जूझा।

'सूझा' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'दिखाई देता है' किया है। किन्तु 'जानहु' के साथ इस अर्थ में 'सूझा' संभव नहीं है क्योंकि 'जानहुँ' में 'सूझना' निहित है। मेरी समझ में यह सूझा<सुज्झ<शुद्ध है। अर्थ होगा: यह तिल मानो विशुद्ध अग्निवाण है।

(३६) ११०.६-७ : खिन खिन जबहिं चीर सिर गहा।
काँपत बीज दुहूँ दिसि रहा।
डरपहिं देव लोक सिंघला।
परै न बीज टूटि एहि कला'

कला' का अर्थ अंश लेते हुए डा० अग्रवाल ने अंतिम पंक्ति का अर्थ किया है. कहीं इस बिजली की कला न टूट कर गिर पड़े। किन्तु मेरी समझ में 'कला' का अर्थ 'ढंग' है। अर्थ होगा : कहीं इसी ढंग से [काँपते-काँपते] वह बिजली टूट न पड़े।

(३७) १११.१ : बरनौ गीवँ कूँज कै रीसी।
कंजनार जनु लागेउ 'सीसी'।

दूसरी पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : अथवा कमल की नाल मानो शीशी में लगा दी गई है। किन्तु मेरी समझ में यह 'सीसी' फा० 'शीशः' से बनी 'शीशी' नहीं है, यह सीस<शीर्ष= स्तबक है (पा० स० म०)।

(३८) १११.६ : पुनि तिहि ठाउँ परी 'तिरि' रेखा।
घूँटत पीक लीक सब देखा।

'तिरि' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'तीन' किया है, किन्तु 'परी' तथा 'रेखा' के एक वचन रूपों से यह अर्थ संभव नहीं लगता है। मेरी समझ में 'तिरि'<तिरिअ<तिर्यक्=वक्र, कुटिल, बाँकी है।

(३९) ११३.४ : जोबन 'बान' लेहिं नहिं बागा।
चाहहिं हुलसि हिएँ हठि लागा।

डॉ० अग्रवाल ने 'बान' का अर्थ 'बाण' करते हुए पहली पंक्ति का अर्थ किया है : वे यौवन के बाण बाग नहीं मानते (वश में नहीं हैं)। किन्तु बाणों के साथ 'बाग' की कोई संगति नहीं है। मेरी समझ में बान<वण्ण<वन्य =जंगली अशिक्षित [अश्व] है। तुल० बनमृग मनहुँ आनि रथ जोरे।—रामचरित मानस।

(४०) ११४.१ : पेट पत्र चंदन जनु लावा।
कुंकुह 'केसरि' बरन सोहावा।

दूसरी पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : वह कुकुम और केसर के वर्ण जैसा सुशोभित है। किन्तु इस अर्थ में पुनरुक्ति है। क्योंकि कुंकुम और केसर एक ही हैं। मेरी समझ में 'केसर' से यहाँ पर अभिप्राय 'पुष्परेणु' से है और 'कुंकुह केसरि' का अर्थ होगा 'कुंकुम का पुष्परेणु'।

(४१) ११४.७ : नाभी 'कुंडर' बानारसी।
सौंहँ को होइ मीचु तहँ बसी।

'कुंडर' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'कुंड' किया है, किंतु कुंडर<कुण्डल है।

(४२) ११५.२ : मलयागिरि कै पीठि सँवारी।
बेनी नाग चढ़ा जनु 'कारी'।

'कारी' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'काला' किया है, किन्तु यह कालीय' है, जिसे कृष्ण ने नाथा था। आगे कवि ने कहा भी है

किस्न क करा चढा आहि मार
तब सो छूट अब छूट न नाथ। (११५.५)

(४३) ११५.६ : 'कारी' कँवल गहे मुख देखा।
ससि पाछें जस राहु बिसेखा।

यहाँ पर भी डॉ० अग्रवाल ने 'कारी' का अर्थ 'काला नाग' किया है, किन्तु कारी कालीय है, जैसा वह ऊपर के स्थल पर है।

(४४) ११७.१ : नाभी 'कुंडर' मलै समीरू।
समुंद भँवर जस भँवै गंभीरू।

यहां भी 'कुंडर' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'कुण्ड' किया है, किन्तु वह कुण्डल है, जैसा वह ऊपर ११४.७ में है।

(४५) ११७.३ : चंदन माँझ 'कुरंगिनि खोजू'।
दहुँ को पाव को राजा भोजू।

पहली पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : नाभि कुण्ड के नीचे चन्दन में हिरनी का पद चिह्न (गुह्यस्थान) बना है। किन्तु मेरी समझ में यह 'कुरंगिनि खोज' की कल्पना नाभि के लिए ही है, 'नाभि कुण्ड के नीचे' की शब्दावली छंद में नहीं आती है। छंद की आरम्भिक पंक्तियों से अंतिम पंक्तियों तक नाभि का ही वर्णन हुआ है, इसलिए यह कल्पना भी नाभि के लिए ही मानी जानी चाहिए। डॉ० अग्रवाल ने अपने अर्थ के समर्थन मे निम्नलिखित छंद उद्धृत किया है :

अन्यत्र भीष्माद् गांगेयादन्यत्र च हनूमत.।
हरिणी खुर मात्रेण मोहितं सकलं जगत्॥

किन्तु यह असंभव नहीं है कि प्रयुक्त कल्पना को इस उक्ति से लेते हुए भी जायसी ने उसको नाभि पर चिपका दिया हो।

(४६-४७) ११७.८-९ : बेधि रहा जग बासना 'परिमल' 'मेद' सुगंध।
तेहि अरघानि भँवर सब लुबुधे तजहिं न नीवी बंध॥

पहली पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : उसकी सुगन्धि से संसार बेधा हुआ है; उसकी परिमल मेद की तरह सुगंधित है। टिप्पणी में उन्होंने बताया है कि 'मेद' एक प्रकार की सुगन्धि होती थी जो अबुल फ़जल के अनुसार बिल्ली की जाति के किसी जानवर के बहे हुए मद को सुखा कर बनाई जाती थी (आईन ३०, पृ० ८५)। इसी प्रकार 'परिमल' को उन्होंने 'कमल मंदिर की गंध' माना है। किन्तु जैसा उन्होंने स्वयं भी अन्यत्र उल्लेख किया है (दे० ३८.४ की 'मेद' विषयक टिप्पणी) यह 'मेद' 'आईन' के अनुसार किसी पशु की सुगंधित नाभि से बनाई जाती थी, इसलिए मेरी समझ में 'मेद सुगध' से कवि का तात्पर्य पद्मिनी की 'सुगंध युक्त नाभि' से है और 'बासना' तथा 'परिमल' उसी 'सुगंधित नाभि' के हैं। अन्यत्र कवि ने बास, परिमल और आमोद—सुगंध के तीन प्रकार कहे हैं

चलीं सबै मालति संग फले कँवल कमोद
बधि रहे गन गन्ध्रप बास परिमलामोद ॥ (५९ ८

कोश-ग्रन्थों के अनुसार 'वास' या 'वासना' हल्की सुगंध को और 'परिमल' भीनी सुग 'आमोद' कड़ी सुगंध को कहते है (देखिए मो० वि०)। अतः प्रथम पंक्ति का अर्थ हो सुगंध (सुगंध युक्त) मेद (नाभि) की वासना (हल्की सुगंध) और परिमल (भीनी जगत् बिद्ध हो रहा था।

(४८) १२१ ६: अब जिउ तहाँ इहाँ तन सूना।
कब लगि रहै 'परान बिहूना'।

'परान बिहूना' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'प्राण से हीन होकर' किया है। किन्तु बिहून वि+धू=पृथग् करना, अलग करना है, (पा० स० म०) इसलिए 'बिहूना' का अर्थ से पृथग् किया हुआ'।

(४९) १२२.१ : सबन्हि कहा मन समझहु राजा।
'काल सतें' कै जूझि न छाजा।

'काल सतें' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'काल की शक्ति से' किया है और टिप्पणी में लिखा सत से, शक्ति से बल से। किन्तु जूझना किसी व्यक्ति से पड़ता है, उस की शक्ति से समझ में यह सतें <सत्रा=साथ, से है (देखिए 'सत्रा'—मो० वि०)।

(५०) १२२.२ : 'तासौं' जूझि जात जौं जीता।
जात न किरसुन तजि गोपीता।

इन पंक्तियों का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है: उससे युद्ध ठीक है जिसे जीता जा सके न होता तो कृष्ण जी गोपियों को न छोड़ जाते (अर्थात् कृष्ण में गोपियों से जूझने की शक्ति किन्तु गोपियों से कृष्ण के युद्ध करने का वर्णन या उल्लेख कहीं नहीं मिलता है, के निर्वाह के ही प्रसंग मिलते हैं। मेरी समझ में अर्थ होगा: उस (काल) से यदि युद्ध जीता जा सकता, तो कृष्ण [अपनी प्रेमिका] गोपियों को त्याग कर [इस पृथ्वीतल] से

(५१) १२५.५ : जौं पै नाहीं अस्थिर दसा।
जग उजार का कीजै 'बसा'।

डॉ० अग्रवाल ने 'बसा' का अर्थ 'रहकर' किया है किन्तु इस अर्थ में क्रिया का रूप 'बसा'=बसा हुआ है। अर्थ होगा: यदि हो न हो [जगत् की] दशा स्थिर नहीं तो जगत् उजाड़ हो तो, और बसा हुआ तो क्या कीजिए?

(५२) १२६.४ : मेखल सिंगी 'चक्र' धँधारी।
जोगौटा रुद्राख अधारी।

चक्र के संबंध में डा० अग्रवाल ने टिप्पणी में कहा है चक्र सम्मान छोटा गोल जाली जिसे पवित्री भी कहा जाता है (ब्रिग के आधार पर शिरफ)। किन्तु यह चक्र वह नहीं है जो विष्णु के अस्त्रों में प्राचीन काल से रहा है, और अब भी अकाली सिक्खों के द्वारा सिर पर पगड़ी के साथ बाँध कर धारण किया जाता है। योगी के वेष में प्रस्तुत हुए मनोहर का वर्णन करते हुए मंझन ने भी इसे मस्तक पर धारण कराया है।

चक्र माथ मुख भसम चढ़ावा। (मधु० १३२.४)

(५३) १२७.८–९ : हौं रे 'पँखेरू' पंखी जेहि बन मोर निबाहु।
खेलि चला तेहि बन कहँ तुम्ह आपन घर जाहु॥

'पँखेरू' के संबंध में डॉ० अग्रवाल ने टिप्पणी दी है : पंखेरू—सं० पक्षिरूप>पक्खीरूअ>पक्खइरूअ>पखेरू। किन्तु 'पक्षी' को 'पक्षि रूप' कहना युक्तियुक्त नहीं है; शब्द का यह इतिहास भी संदिग्ध लगता है। पँखेरू<पक्षधर=पंखों को धारण करनेवाला, पक्षी है।

(५४) १२८.१ : चहुँ दिसि आन साँटिअन्ह फेरी।
मै 'कटकाई' राजा केरी।

'कटकाई' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'कटक दल की यात्रा' किया है, किन्तु मेरी समझ में 'कटकाई' <कटकिका=छोटी सेना है। यथा :

तौ कत लीन्ह संग कटकाई।—रामचरित मानस

(५५) १२८.२ : जाँवत अहै सकल 'ओरगाना'।
साँबर लेहु दूरि है जाना।

'ओरगाना' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'प्रधान सामन्त आदि' किया है। किन्तु यह 'ओरगाना'=भृत्य-समुदाय है। (देखिए ऊपर ९९.८–९ के 'ओरगाने' के संबंध का विवेचन)

(५६) १२८.७ : 'मंत्रा' लेहु होहु सँग लागू।
गुदरि जाइ सब होइहि आगू।

'मंत्रा' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'दीक्षा-मंत्र' किया है। किन्तु मेरे विचार से यह मंत्रा=मात्रा=सामान, शंबल, है।

(५७) १२९.७ : कैसें खाब कुरकुटा रूखा।

'कुरकुटा' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'भात' किया है, और टिप्पणी में कहा है : कुरकुटा—सं० कूर=भात, कूट=ढेर : भात के लिए 'कूर' शब्द 'मृच्छकटिक' में प्रयुक्त हुआ है। किन्तु 'कुरकुटा' है : <कूर(=उबाला हुआ चावल)+कुटिल (=टेढ़ा हो गया हुआ, ऐंठा हुआ)। अतः 'कुरकुटा' का अर्थ होगा : सूख कर ऐंठा हुआ उबाला चावल।

(५८) १३०.७ : ओनहूँ सिस्टि जौ देख 'परेवा'।
तजा राज कजरी बन सेवा।

'परेवा' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'पराया' किया है। किन्तु यह शब्द रचना में अनेक बार आया है और <पारावत=कबूतर है जो प्राय: 'पक्षी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर 'परेवा' से आशय पारावत या पक्षी के समान उड़ जाने वाला, अस्थिर है।

(५९) १३३.२ : बार मोर 'रजियाउर' रता।
सो लै चला सुवा परबता।

'रजियाउर' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'राज्यकुल' किया है यद्यपि उनका आशय संभवत: 'राजकुल' से है। किन्तु मेरी समझ में यह रजियाउर<राज्य+आवलि राजकीय कार्यों की पंक्ति है। यह शब्द 'रजाउरि' के रूप में अन्यत्र भी आता है :

धनि राजा तोर राज विसेखा।
जेहि की 'रजाउरि' सब किछु देखा। (३३०.५)

(६०) १३६.८–९ : करहिं पयान भोर उठि नितहिं कोस दस जाहिं।
पंथी पंथाँ जे चलहिं ते का रहन 'ओनाहिं'॥

'ओनाहिं' का अर्थ डां० अग्रवाल ने 'ठहरते हैं' किया है, 'किन्तु ओनाना' शब्द ठेठ अवधी का है, जिसका अर्थ है सुनना, सुनकर ध्यान देना अथवा सुनकर तदनुसार कार्य करना। यह शब्द रचना में अनेक बार आया है और सर्वत्र इन्हीं अर्थों में आया है। (देखिए, ऊपर ७४.७ तथा ९५.७ में शब्द की विवेचना)

(६१) १३९.३ : कया मलै तेहि भसम मलीजा।
चलि दस कोस 'ओस निति भीजा।'

'ओस में भीगने' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'पसीने से भींगना' किया है। किन्तु मेरी समझ में 'ओस [<ओसा-<अवश्याय] में भीगने' से अभिप्राय आकाश के नीचे 'खुले में पड़ कर सोना' है। योगी खुले में पड़ाव करते थे, इसलिए कवि ने उनका रात्रि में विश्राम करने को ओस से भीगना कहा है।

(६२) १४२.१ : गजपति यह मन सकती 'सीऊ'।
पै जेहि पेम कहाँ, तेहि जीऊ।

'सीऊ' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'सीमा' किया है। किन्तु 'सींव' अथवा 'सींउ'<सीमा है। सीउ<शिव है। शक्ति और शिव—दो मूलतत्त्व माने गए है। जायसी का कहना है कि मन ही शक्ति है और मन ही शिव है। कबीर ने भी इसी प्रकार कहा है :

इहु मन सकती इहु मन सीउ।
इहु मन पंच तत्त को जीउ। (संत कबीर, गउड़ी ३३)

(६३) १४२.५ : औ जेइँ समुँद पेम कर देखा।
तेइँ यह समुद बुद बरु लेखा

३

बरु का अर्थ डा० अग्रवाल ने तरह किया है किन्तु बरु<बरम बहुत हुआ तो अधिक से अधिक, भले ही, के अर्थों मे प्रयुक्त होता है और यहा भी बहुत हुआ तो के अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

(६४) १४५.७: हातिम करन दिया जौ सिखा।
दिया अहा 'धरमन्हि' महँ लिखा।

दूसरी पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : उसी दान के कारण धर्मात्माओं में उनका नाम लिखा गया। किन्तु शब्द 'धरमिन्ह' नही 'धरमन्हि' है, अतः अर्थ होना चाहिए : क्योंकि दान देना [समस्त] धर्मों में लिखा था।

(६५) १४६.१: सत न डोल देखा गजपती।
राजा दत्त सत्त दुहुं 'सती'।

दूसरी पक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : राजा के पास दान और सत्य दोनों की शक्ति थी। किन्तु 'सती'> शक्ति नहीं है, प्राकृत में शक्ति>सत्ति है, 'सती' प्रसिद्ध सं० शब्द है और 'सत्' से बना है। यह स्त्रीलिंग है किन्तु सूफ़ी कवियों द्वारा पुल्लिंग रूप में भी व्यवहृत हुआ है। मंझन ने अपने गुरु शेख मुहम्मद गौस के लिए कहा है :

सन नौ सै बावन जब भए।
सती पुरुष कलि परिहरि गए। (मधु० ३९.१)

(६६) १४७.३: समुंद अपार सरग जनु लागा।
सरग न 'घालि' गनै बैरागा।

दूसरी पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : बैरागी राजा सोचने लगा कि कहीं आकाश न गिर पड़े। किन्तु घाल्<घल्ल =फेंकना, डालना है (पा० स० म०), गिरना नहीं। मेरी समझ में यह घालि <घल्ल=फेंकी या डाली जानेवाली वस्तु, घेलुआ है। अर्थ होगा : [किन्तु] वह स्वर्ग (आकाश) को घेलुवा (घेलुवे के बराबर,) भी नही गिनता है।

(६७) १४८.१: केवट हँसे सो सुनत 'गवेंजा'।
समुंद न जान कुँआ आकर मेंजा।

'गवेंजा' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'चर्चा, गवँई बातचीत' किया है और कहा है कि इस समय अवधी में इसके स्थान पर 'गौंजा' शब्द चलता है। किन्तु 'गौंजना' का अर्थ अवधी में 'चर्चा करना' नहीं है, लम्बी-चौड़ी हाँकना' है। 'गवेंजा'<गव्व+एज<गर्व+एज=गर्व का पवन, गर्व का झोंका, गर्वोक्ति है।

(६८) १४८.२: यह तौ चाल्ह न लागै 'कोहू'।
काह कहौ जौ देखहु रोहू।

पहली पंक्ति का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने किया है : यह तो चेल्हुआ मछली है जो किसी को नहीं सताती। किन्तु 'किसी को' के अर्थ में 'कोहू' का प्रयोग रचना में अन्यत्र नही मिलता है और सर्वत्र केवल

क्रोध' के अर्थ में मिलता है यहा भी कोह<क्रोध है अर्थ होगा यह तो चाल्हा है इसी पर तुम्हें इतना क्रोध न लगना चाहिए।

(६९) १४८.७: तहाँ न चाँद न सुरुज असूझा।
चढ़ै सो जो अस 'अगुमन' बूझा।

'अगुमन' का अर्थ डॉ० अग्रवाल ने 'आगे का भेद' किया है। किन्तु 'अगुमन' 'पदमावत' का एक बहु- प्रयुक्त शब्द है, और सर्वत्र 'आगे से' या 'पहले से' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

गिरिधरनाथ-कृत रसिक श्रृंगार—एक संवाद-काव्य

डॉ० भगीरथ मिश्र

हिन्दी के प्राचीन और मध्ययुगीन साहित्य में दृश्य काव्यों का अभाव दीखता है। इसके कई कारण हैं, जिनमें प्रमुख हैं—(१) संस्कृत की रंगमंच की परंपरा का श्रमण संप्रदायों की धार्मिक नैतिकता के कारण टूट जाना, (२) जीवन के प्रति निवृत्तिपरक दृष्टिकोण का विकास तथा, (३) मुस्लिम शासकों की नाटकीय साहित्य के प्रति उपेक्षा और विरोध आदि। परन्तु लोक की नाटकीय अभिरुचि तथा कवि की नाटकीय प्रतिभा ने अपने लिए दूसरे मार्ग खोज निकाले थे। रासलीला, रामलीला, स्वांग, भँडैती आदि के रूप मे लोक की नाटक-परक अभिरुचि अबाध तुष्ट होती रही और कवि-प्रतिभा ने अपने प्रबंध और अनिबद्ध काव्यों में नाटकीयता का समावेश किया। पृथ्वीराज रासो, अष्टछापी कृष्णभक्त कवियों के लीला और भंवरगीत काव्य, रामचरित मानस, रामचन्द्रिका आदि काव्यों के भीतर नाटकीय विशेषताओं तथा संवाद तत्वों का समावेश किया गया। अनेक काव्यों के भीतर के अंश अभिनय की दृष्टि से उपयोगी हैं और रासाभिनयों के लिए उनका प्रयोग किया गया। नंददास का भंवरगीत एक संवाद-काव्य है। इस प्रसंग को लेकर अनेक ग्रंथ लिखे गये, परन्तु इसके अतिरिक्त कृष्ण-लीला के अन्य प्रसंगों के भी संवाद काव्य हैं। नरोत्तमदास-कृत 'सुदामा चरित' भी एक रोचक संवाद-काव्य है। इन संवाद-काव्यों की लम्बी परपरा है जिसमें कृष्णभक्त एवं रामभक्त कवियों की प्रचुर रचनायें हैं। कृष्ण भक्ति से संबंधित सवाद-काव्य की परंपरा में ही एक सुन्दर संवाद-काव्य है गिरिधरनाथ-कृत 'रसिक श्रृंगार'। इसकी एक खंडित प्रति ही प्राप्त हुई है जिसके सहारे यह परिचय दिया जा रहा है।

गिरिधरनाथ के संबंध में कुछ भी ज्ञात नहीं हो पाया। ग्रंथ में इनका परिचय प्राप्त नहीं है। इसमें इनके नाम के गिरिधर तथा 'नाथ' शब्द प्रयुक्त हुए हैं। इस ग्रंथ पर माधुर्य, भक्ति एवं श्रृंगार परपरा का पूरा प्रभाव है। 'रसिक श्रृंगार' ग्रंथ में कृष्ण-गोपी-संवादों के रूप में दानलीला का प्रसग है। गिरिधरनाथ तथा उनके 'रसिक श्रृंगार' ग्रंथ का विवरण अभी तक किसी अन्य ग्रंथ मे प्राप्त नहीं हुआ है। प्रति खंडित होने के नाते प्रारंभ के छन्दों का परिचयात्मक विवरण भी उपलब्ध नहीं है। परन्तु इसमें सन्देह नहीं कि कवित्व की दृष्टि से इसके संवादों में भाव-चमत्कार अत्यन्त मनोरम है। कथा की भूमिका इस प्रकार है—

गोवर्धन गिरि के कानन-मध्य किसी कुंज-गली में राधा और उनकी सखियों—ललिता, विशाखा, रंगदेवी, सुदेवी, चंपकलता की मुठभेड़ कृष्ण और उनके सखाओं मधुमंगल, सुबाहु आदि से हो जाती है। इस मधुर मिलन का आन्तरिक रूप से दोनों ही दलों ने स्वागत किया। पर ऊपर से कुछ दूसरा ही भाव प्रकट किया इस भाव का वणन करते हुए कवि न लिखा है

कीजिये मनोरथ ते पाव्यत यम्य माझ एसे कहि मिली राध चतुर सब अली
कोमल अरुन पट इंडुरी बनाय भरि माखन कनकघटी माथै 'नाथ' लै चली।।
मन मों किसोर पिय मिलिबे की आसा डोरी बंधी आनि निकसी हैं गिरिराज की गली।
नुपर मधुर बिछिया की धुनि सुनि सुनि गिरिधर अभिलाषा कलपलता फली।।५।।

यह प्रसंग यहां पर गोस्वामी तुलसीदास के पुष्पबाटिका प्रसंग से बहुत कुछ मिलता-जुलता है, परन्तु अन्तर दोनों में यह है कि सीता-राम अपनी लज्जा, शील और सामाजिक मर्यादा में बंधे है और भाव का प्रकाशन राज-पुष्पवाटिका में संयत है, परन्तु गोपी कृष्ण के प्रसंग के अन्य वातावरण में पूरी स्वच्छन्दता और ढिठाई एवं जोरा-जोरी विद्यमान है। साज-समाज के साथ राधा को आते देख, दान के लिए जुटे हुए गोप-गोपाल उनका गोरस लूटना चाहते हैं। कृष्ण कहते हैं कि उन्हें न रोको ये तो जानी पहिचानी मानी ठकुरानी हैं, ये तो बिना माँगे ही हमे गोरस देंगी :—

बिनु माँगे आपही तें देहि तासों कहा कहैं, माँगे हूते देंहि नाहि तासों रिस कीजिये।
बृन्दाबन नाथ भूप मन्मथ ही आप रूप, तासों अधिकाइ कै अधिक तन छीजिये।।
लैबै तो अधिक हौ पै साधुता तिहारी देखि, ऐसी मन आई कछू थोरो ही सौं लीजिये।
बिन दीने दान एक पैंड़ भरि जान कैसो, रापत हैं मान ताते मान ही सों दीजिये।।८।।

गोपिकायें कृष्ण की इस चतुराई में नहीं आतीं और कृष्ण को बड़ा चुभता-सा उत्तर देती है। वह कहती है :—

दान मिस लूटिबे को बैठे खोरि सांकरी में, तिन हीं तौ बाँचौ जे बसत याही गाँउरे।
राहु केतु रबि सोम मंगल बुध सरुस, सुक्र सनि बारनि को दानु ठाँउ ठाँउरे।।
कारो पीरो सेत रातो काको लै हौ कही वा तौ, लरिकन बरजौ ज्यों छाँड़ै काँउ काँउरे।
जानती हैं ऐसी नाथ ठौर ठौर ओटि हाथ, दान ही के लेत लेत ह्वै गये हैं साँउरे।।

कृष्ण अपने साँवरेपन का दूसरा पक्ष प्रगट करते हुए सखी से अपनी सफाई देते हैं कि ब्रज मे गोरेपन की कमी नहीं है, पर हमें किसी के गोरेपन से क्या मतलब है। यदि किसी पर रीझ कर मुरली मे उसका गान करते हैं, तो किसी के लिए हम साँवरे होते हुए भी सलोने हैं, जैसा कि इस छन्द में प्रकट हुआ है :—

सोवे हू के आये कौन ऐसे कोऊ लै उठैन, कीन्हें नेह मोहू सौं उलटे रिसौने है।
गोकुल को नाथ ग्रह दान लेत सांवरे हैं, कहां केतु मारे अंग सुन्दर सु ठौने है।।
गोरी भोरी थोरी वैस ब्रज में न गोरी थोरी, काहू के गुराये कै न पीछे हमें होने हैं।
जाही की गुराई भाई मुरली में नित्य गाई, ताके भायें हमहूं तौं सांवरे सलोने हैं।।

अपना बचाव करती हुई सखी अपनी उच्चता, लज्जा और लोक-मर्यादा का भाव प्रकट करती है। उनके मार्ग में छेड़-छाड़ करने की धृष्टता पर गोपियों का व्यंग्य कितना सुन्दर है यह छन्दो म देखा जा सकता है

ठौर ठौर आटि हाथ गोकुल के नाथ भय भला बगी जाम का नन्द राग धरिया।
अनबोली चलौं आली बोलै ते न पथ पति, पथ पति जब नब लायक सा लखिय॥
ऐसी गोरी को है जो करैगी प्रीति सांवरे सों, हाइ हाइ माई यों सुनत काम मथिये।
ह्यां लौं भये गोरी के गुराये लौ पसारो मुप, अंग लौं पसारी भाँति छोलनि ते छाँथ्ये॥
भोरी मोरी गोरी थोरी बैस नागरी किसोरी, हम तिनसों ठिठोगी ह्यां त्यों ही निसंक है।
जानत ही अलक लड़ैं तो ब्रजराज जू को, जान्यो अब लालची भिगारी काह रक है॥
नाथ पथ बात पट सुनि हैं जु गुरुजन, करिहै न अंगीकार अजग सों अंक है।
काजर की कोठरी मे पैठे ज्यों लगै करौंछ, बतराये कारे के यों लागत कलंक है॥

व्यंग से नालायक बनाये जाने पर, कृष्ण काले के पक्ष में फिर तर्क देते हैं कि काले बादल यद्यपि संसार को सरसता, प्रसन्नता प्रदान करते है, पृथ्वी का संताप हरते हैं, संसार के जीवों के आधार हैं फिर भी बिजली उनका विश्वास नहीं करती और उनमें क्षण भर भी नहीं ठहरती है यही बात कामिनी के लिए भी सत्य है। इस भाव को प्रकट करने वाला छन्द यह है :—

गगन सघन घन सब ही के तन मन, हरष दिन ही दिन नई नई प्रीति है।
बरसे अमृतसार ताहीं ते जीवै संसार, जीवनि आधार ताके ऐसी रीति है॥
धरती संताप हारी सबही को हितकारी, नवरस धारी कारे अनूप मूरति है।
ताहू में न ठहराइ ठौर ठौर चमकाइ, दामिनि और कामिनी की कहा परतीति है॥

कृष्ण का यह कथन चाणक्य नीति के भाव पर गोस्वामी तुलसीदास द्वारा राम के विरह की दशा में कहायी गई निम्नांकित पंक्तियों का स्मरण दिलाता है :—

शास्त्र सुचिंतित पुनि पुनि देखिय। नृपति सुसेवित बस नहि लेखिय।
राखिय नारि जदपि उर माँही। नृपति शास्त्र जुवती बस नाहीं॥

इसके उपरान्त कृष्ण गोपिकाओं से दान के पुण्यफलों का बखान करते हैं। इस पर उत्तर-प्रत्युत्तर चलते हैं। इस प्रकार अनेक छन्दों में संवाद-पटुता बड़ी रमणीय है। उत्तर-प्रत्युत्तर का एक छन्द यहाँ दिया जाता है :—

काहि चाउ को है ठाली बैठी जो लखावैं बोलैं अंगुरी दसन चापि, ये हैं गुन गारे के।
को है मानी. वृन्दाबन रानी फिर मुसुक्यानी कीये आनाकानी फल लागें पहिचाने के॥
कैसे फल ऐसे जैसे देखति हौं वैसे कहा नाथ हम जियें सुमु गेंद डग जाने के।
जानति हौ को हैं हम, को हौ हम जानति हैं राजा नन्दगांव के, हौ नेरे बरसाने के॥

इसके उपरान्त दान लीला का वर्णन है। दान लीला के पूर्ववर्ती आया हुआ यह संवाद-काव्य आद्यन्त रोचक और सजीव है। उक्ति वैचित्र्य, तर्क, उत्तर-प्रत्युत्तर बहुत चमत्कारपूर्ण है। इनके अतिरिक्त भाषा बड़ी ही मंजी हुई, मुहावरेदार और चुभती उक्तियों से भरपूर है। इस प्रकार 'रसिक सिंगार' बड़ा ही सुन्दर सवाद-काव्य है। लेखक के अन्य ग्रंथ तथा परिचय प्राप्त नहीं है परन्तु इस काव्य से उसकी उत्तम कवि प्रतिभा प्रमाणित होती है

फिरंगी और लोक-मानस

डॉ० कैलाशचन्द्र भाटिया

भारत के पश्चिमी तट पर आकर बसने वाली यूरोपियन जातियों में सर्वप्रथम पुर्तगाली थे पश्चिमी तट पर बसने वाली इस विदेशी जाति के व्यक्तियों के लिए ही 'फिरंगी' शब्द व्यवहृत होता था। ऐसा ही उल्लेख व्हिट्वर्थ[1] महोदय के कोश में हैं। इस शब्द का सीधा संबंध शब्द 'फ्रैंक' (Frank) से स्थापित किया गया है। 'फ्रैंक' वस्तुतः एक जर्मन जाति थी जिसने छठवी शताब्दी में फ्रांस पर अधिकार किया था। बाद में पश्चिमी जाति के लिए प्रयुक्त किया जाने लगा।[2] डलगाडो महोदय ने भी इसका संबंध इसी शब्द से स्थापित किया है। हॉस्टन महोदय ने इसकी व्युत्पत्ति मलयाल्म शब्द 'परंकी' से मानी थी जिसका विरोध टेम्पल[3] महोदय ने इंडियन एंटीक्वरी मे किया। आपने इसके दो अन्य रूप भी दिये—'फ्रंगी' तथा 'फ़ेरिगी'। 'फिरंगी' शब्द का प्रथम-प्रथम प्रयोग सोनेरत (Sonnerat) के सन् १७८१ में तथा उसके बाद एल्फ़िन्स्टोन (Elphinstone) के जीवन-चरित सन् १८८४ में मिलत है। यही शब्द फ़ारसी में फ़िरंगी', 'फ़िरिंगी' अरबी मे 'अल-फ़रंज', 'इफ़्रंजी', 'फ़िरजी' आदि के रूप में सुरक्षित है। हाब्सन जाब्सन[4] का मत है कि यह भारतीय (भारत में उत्पन्न) पुर्तगालियों के लिए प्रयुक्त होता था। आज सामान्यतः किसी भी यूरोपियन के लिए किया जा सकता है। दक्षिण में प्रयुक्त 'परंगी' या सिंहली 'परंगी' का अर्थ तो केवल पुर्तगाली मात्र है। तमिल[5] में भी 'परंगी' शब्द प्रचलित है और साथ ही उससे व्युत्पन्न 'परगी-पत्ताइ', 'परंगीमलाइ', 'परंगीतलाइ', 'परंगीक्काय', 'परंगीक्कुरसाइ' शब्द प्रचलित है। मद्रास राज्य के प्रसिद्ध धार्मिक नगर अन्नामलाई के समीप जो पुर्तगाली बन्दरगाह है, वह भी प्रारम्भ में 'परंगीपत्ताइ' कहलाता था जो आज 'पोर्तोनोवो' के नाम से प्रसिद्ध है। द्रविड़ भाषाओ मे शब्द के प्रारम्भ में 'फ़' का उच्चारण सम्भव नहीं, सम्भवतः इसीलिए 'फ्रैंक' शब्द का विकृत

---

१. Whitworth, George Clifford—An Anglo-Indian Dictionary, 1885—Firangi—Corruption of 'Frank' name given to Portuguese settled on the west coast of India.

२. The Concise Oxford Dictionary, 1942, Page 453.

३. Temple, R. C.—Notes, Indian Antiquary, Vol. 57, 1928, Page 156.

४. Hobson Jobson, 1903, Page 352.

५. Meenakshisundaram, T. P.—Portuguese Influence revealed by the Tamil Words, Journal of Annamalai University, Vol. XVI Page 11 25

रूप वहा फिरगी न होकर पिरगी या परगी हुआ। तमिल की यह ध्वन्यात्मक विशेषता है कि वहां प्रारम्भ मे अघोष ध्वनियां हो आती हैं और मध्य में सघोष। इसके फलस्वरूप पिरंगि बना और वही शब्द उत्तर भारत में प्रचलित होते समय 'फ़िरंगी' बन गया क्योंकि आदि स्थिति में हम लोग 'फ' ध्वनि का उच्चारण कर सकते हैं।

इस प्रकार यह पुर्तगाली शब्द दक्षिण मे प्रभावित होकर उत्तर की ओर आया न कि उत्तर से दक्षिण की भाषाओं में गया जैसा कि मद्रास विश्वविद्यालय से प्रकाशित 'तमिल लेक्सीकन' में 'पिरंगी' शब्द को 'फिरंगी' से माना है। पुराने सभी कोशों में यह शब्द सुरक्षित है। टेम्पल[१] महोदय ने भी अपनी ग्लोसरी में इसको सम्मिलित किया है। तमिल में एक दूसरा शब्द 'परंगी' भी है जिसका इससे कोई संबंध नहीं है। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर आते हैं कि मूल शब्द 'फ्रैंक' है जिससे बिगड़ते-बिगड़ते 'फिरगी' शब्द किसी भी विदेशी जाति के लिए प्रयुक्त होने लगा। एक प्रकार से विदेशी या पाश्चात्य का 'फिरंगी' पर्याय बन गया। इसका प्रभाव यहां तक पड़ा कि कभी-कभी किसी विदेशी पदार्थ का नामकरण भी इसी के आधार पर कर दिया जाता है जैसे अमेरिकन वीड (Argemone Mexicana) के लिए 'फिरंगी धतूरा'[२] कहा जाने लगा।

यही 'फिरंगी' शब्द लोक-साहित्य में भी प्रचारित तथा प्रसारित हुआ। सामान्यतः 'फ़िरंगी' शब्द से यूरोप की विदेशी—गोरी जाति का बोध होता है। फिरंगी के अत्याचारों से लोक पीड़ित था तथा उनके विरोध में सत्याग्रह भी किया जाता था। उनके द्वारा किये गये अत्याचारों के प्रति भारतीयों मे घृणा का भाव अवश्य उत्पन्न हुआ पर मानव का मानव के प्रति प्रेम निरन्तर बना रहा। महात्मा गांधी जी के अहिंसात्मक आंदोलन में भारतीय आत्मीयता का सुन्दर दर्शन होता है। विदेशियों के द्वारा किये गये सुधार भी प्रारम्भ में बुरी दृष्टि से देखे गये। नल की जिस व्यवस्था के लिए प्रत्येक नगर तथा गाँव आज इच्छुक ही नहीं लालायित है, उसका प्रारम्भ में पर्याप्त विरोध किया गया। यह भावना निम्नलिखित लोकगीत में स्पष्ट होती है। यह गीत बहुधा किसी जल के स्थान (यमुना-पूजन) की ओर जाते समय मार्ग में गाया जाता है। गीत इस प्रकार है:—

फिरंगी नल मत लगवावै
नल को पानी भौत बुरौ मेरी तबियत घबड़ावै॥
भरा कटोरा दूध का कोई बूरे बिन पियो न जाय। मेम्बर जी॥
माई-बाप की लाड़ली कोई पिया बिन रहा न जाय॥
फिरंगी नल मत लगवावै

---

१. Temple, G.—Glossory of Indian Terms, 1897, Page 13.

२. Watt—Dictionary of Economic Products of India, 1889-93.
भाग १ पृष्ठ ३०६ हॉब्सन जाब्सन वही पृष्ठ ३५

इस गीत में तो विरोध प्रकट किया गया है पर एक अन्य गीत में आत्मीयता प्रकट करते हुए होली खेलने के लिए निमन्त्रण दिया गया है। निमन्त्रण में 'मिज़ाजिन' शब्द विशेष उल्लेखनीय तथा अवलोकनीय है। यहाँ पर इस शब्द का प्रयोग स्नेहपूर्ण व्यंग्य के साथ किया गया है। यह गीत भी आज ब्रज में विशेष प्रचलित है और अपनी स्वरलहरी में लोक की उदारता, लोक के प्रेम तथा सौहार्द का उद्‌घाटन करता है। गीत इस प्रकार है :—

कहियौ जी फिरंगिनि तैं कोई होरी खेलन आवै नबाव,
बागनि बागनि डोलै फिरंगिनि भला जी कोई रौसनि डोलै नबाब।
तालनि तालनि डोलै जी फिरंगिनि भला जी पारनि पारनि डोलै नबाब।
कुअटरि कुअटरि डोलै री फिरंगिनि भला जी कोई आसन पासन नबाब।
महलनि महलनि डोलै फिरंगिनि भला जी कमरनि कमरनि डोलै नबाब।
कइयौ जी मिज़ाजिनि ते, भला जी होली खेलन आवै नबाब॥[1]

इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि लोक में फिरंगी के दोनों ही रूप विद्यमान हैं। लोक-मानस में यह शब्द इतना व्याप्त हो गया है कि न तो शब्द ही विदेशी प्रतीत होता है और न जिनके लिए प्रयुक्त किया गया है वे ही विदेशी प्रतीत होते हैं।

---

१. इस गीत के लिए मैं अपने परम मित्र डा० ब्रजवासीलाल श्रीवास्तव का आभारी हूँ। जिस समय आप लोक से ब्रजगीतों का संग्रह टेप पर करके लाये थे तो उसमें से इस गीत को मुझे उतारने की आज्ञा दी।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर के उपन्यास और हिन्दी पाठकों के बीच उनकी लोकप्रियता

श्री गोपाल राय

हिन्दीतर भाषाओं से अनूदित उपन्यासों में बंगला के उपन्यास हिन्दी पाठकों में विशेष लोकप्रिय हुए। उन्नीसवीं शताब्दी के अंतिम चरण में ही बंगला उपन्यासों की तरफ हिन्दी लेखकों और पाठकों का ध्यान आकृष्ट हुआ और तब से लेकर आज तक अनेक बंगला उपन्यासकारों की कृतियों के अनुवाद हिन्दी में हो चुके हैं।[1] बंगला उपन्यासकारों में से तीन ने —बंकिम, शरत् और रवीन्द्र—हिन्दी पाठकों के बीच विशेष लोकप्रियता प्राप्त की। हिन्दी उपन्यास जब अपने विकास का मार्ग ढूंढ़ रहा था, तभी बंकिम के उपन्यास लेखकों और पाठकों के समक्ष प्रतिमान बनकर उपस्थित हुए, और उन्नीसवी शताब्दी के अंतिम चरण से लेकर बीसवीं शताब्दी के प्रथम दशक तक हिन्दी संसार में इनका गौरवपूर्ण स्थान बना रहा। शरत् चंद्र के उपन्यासों के अनुवाद बीसवीं शताब्दी के तीसरे दशक में प्रकाशित होने शुरू हुए, और परवर्ती दशकों में उन्हें जो लोकप्रियता प्राप्त हुई, वह अनुवादों की बात तो कौन कहे, हिन्दी के मौलिक उपन्यासों के लिए भी दुर्लभ बनी रही। समय की दृष्टि से रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों का स्थान इन दोनों उपन्यासकारों के मध्य का है। वर्तमान शताब्दी के द्वितीय दशक के आरंभ में हिन्दी अनुवादकों का ध्यान इनके उपन्यासों की तरफ आकृष्ट हुआ था और तब से लेकर आज तक इनके उपन्यासों के एकाधिक अनुवाद और अनेक संस्करण हिन्दी में प्रकाशित हो चुके हैं।

हिन्दी पाठक वर्ग के बीच रवीन्द्र के उपन्यासों की लोकप्रियता का आकलन करने के लिए इनके हिन्दी अनुवादों का ऐतिहासिक तिथिक्रम प्रस्तुत करना अनिवार्य प्रतीत होता है, यद्यपि इस मार्ग में कठिनाइयाँ बहुत हैं। हमारे देश में एक भी ऐसा पुस्तकालय नहीं है, जहाँ रवीन्द्र के सभी उपन्यासों के अनुवाद, तथा उनके प्रत्येक संस्करण एक साथ उपलब्ध हो सकें। हिन्दी के प्रकाशक पुस्तकों की संस्करण-संख्या, प्रकाशन-काल, मुद्रित प्रतियों की संख्या आदि देना आवश्यक नहीं समझते। कुछ प्रकाशक तो इन सूचनाओं के बारे में बिल्कुल ही मौन धारण कर अपनी व्यावहारिक कूटबुद्धि का परिचय देते है, और कुछ इनमें से एकाध सूचना देकर अपना

---

१. बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, रमेशचन्द्र दत्त, पाँचकौड़ी दे, रवीन्द्रनाथ ठाकुर, स्वर्णकुमारी देवी, दामोदरदास मुखोपाध्याय, हरिसाधन मुखोपाध्याय, ननीलाल बंद्योपाध्याय, प्रभात कुमार मुखोपाध्याय, जलधर सेन, राखलदास बंद्योपाध्याय, शरच्चंद्र चट्टोपाध्याय, ताराशंकर बंद्योपाध्याय, विभूतिभूषण बंद्योपाध्याय आदि के नाम इस प्रसंग में विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं

कर्त्तव्य किसी प्रकार निभा डालते हैं। यदा-कदा यदि कुछ सूचनाएँ प्राप्त भी होती हैं, तो उन पर विश्वास करना सर्वथा निरापद नहीं होता। अनूदित पुस्तकों के संबंध में उपर्युक्त कथन विशेष रूप से लागू होता है। प्रकाशक बहुधा अनुवादक का नाम तक नहीं देते, और सूचनाओं की बात तो अलग रहे। ऐसी अवस्था में किसी उपन्यासकार के, यदि वह पाठकों के बीच विशेष लोकप्रिय हो, उपन्यासों की कुल मुद्रित प्रतियों का ठीक-ठीक पता लगाना, एक नितान्त कठिन, असंभवप्राय कार्य है।

मैंने इस संबंध में चार पुस्तकालयों—आर्य भाषा पुस्तकालय (का० ना० प्र० स०), पटना विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पटना कालेज पुस्तकालय, और बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पुस्तकालय—की छानबीन की है तथा रवीन्द्र के उपन्यासों के अनुवाद प्रकाशित करने वाले प्रकाशकों से मिलकर आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त की हैं। पटने के कुछ पुस्तक-विक्रेताओं की कृपा से भी कुछ महत्त्वपूर्ण सूचनाएं मिली हैं। कहीं-कही पुस्तक-सूचियों और विज्ञापनों से भी काम चलाया गया है। लेखक इस सूचना के सर्वथा निर्दोष होने का दावा तो नही करता, किन्तु उससे रवीन्द्र के उपन्यासों की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है, इसमें कोई संदेह नही।

रवीन्द्रनाथ का एक भी ऐसा उपन्यास नहीं है, जिसके एकाधिक अनुवाद और उनके अनेक संस्करण हिन्दी में प्रकाशित न हुए हों।[1] रवि बाबू के उपन्यास भारत की अन्य किसी भी भाषा की अपेक्षा हिन्दी में अधिक लोकप्रिय सिद्ध हुए, यह दावा करना असंगत नहीं है। सच तो यह है कि हिन्दी में रवीन्द्र के उपन्यासों की लोकप्रियता बंगला पाठकों से किसी भी अंश में कम नही है। अधोलिखित विवरण से हमारे इस कथन की पुष्टि होती है।

सर्वप्रथम रवीन्द्रनाथ ठाकुर के 'मुकुट'[2] नामक उपन्यास का अनुवाद, इसी शीर्षक से, प० जनार्दन झा ने प्रस्तुत किया, जो इंडियन प्रेस, प्रयाग से १९१० ई० में प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद की भूमिका में अनुवादक ने लिखा था, "भाई-भाई में परस्पर वैमनस्य होने से उसका परिणाम अंत में क्या होता है, यही इस उपन्यास में दिखलाया गया है। इसे स्त्री-पुरुष, बालक-बालिकागण सभी निःसंकोच पढ़ सकते हैं। हिन्दी के अनुरागी यदि इस उपन्यास को शिक्षाप्रद समझ आदर की दृष्टि से देखेंगे तो मैं अपना परिश्रम सार्थक समझूंगा।" इस कथन से तत्कालीन हिन्दी उपन्यास-पाठकों की रुचि का आभास मिलता है। मूलतः बंगला में यह उपन्यास बालकों को ध्यान में रखकर लिखा गया था। पर यह स्मरणीय है कि हिन्दी का उपन्यास-पाठक, पठन-परिपक्वता की दृष्टि से, उस समय अभी शैशवावस्था से ही गुजर रहा था। अतः हिन्दी उपन्यास-पाठकों ने यदि इस उपन्यास का मुक्त हृदय से स्वागत किया, तो इसमें कोई आश्चर्य की बात नही है।

---

१. रवीन्द्रनाथ के केवल एक उपन्यास "करुणा" का हिन्दी में अनुवाद नहीं हुआ है। यह उपन्यास बंगाब्द १२८४-८५ (ई० सन् १८७७-७८) में "भारती" नामक बंगला पत्रिका में प्रकाशित हुआ था। पर बंगला में भी, पुस्तकरूप में, यह उपन्यास कभी भी प्रकाशित नहीं हुआ। यही कारण है कि हिन्दी-लेखकों का ध्यान इसकी तरफ नहीं गया।

२. "मुकुट' सर्वप्रथम 'बालक' नामक पत्रिका में बंगाब्द १२९२ वैशाख-ज्येष्ठ १८८५ ई० में प्रकाशित हुआ था पुस्तक रूप में भी उसी साल इसका हुआ

१९१५ ई० तक इस अनुवाद का दूसरा संस्करण हो चुका था. यह सरस्वती १९११ वर्ष १७, अंक २ के एक विज्ञापन से ज्ञात होता है। १९२७ ई० में इसका एक "संशोधित संस्करण प्रकाशित हुआ।[1]

बहुत बाद में, श्री धन्य कुमार जैन ने उपर्युक्त उपन्यास का अनुवाद 'रवीन्द्र-साहित्य' के पन्द्रहवें भाग में सम्मिलित किया, जो उन्हीं के द्वारा, हिन्दी ग्रंथागार, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। प्रकाशन-काल, संस्करण-संख्या तथा मुद्रित प्रतियों की सूचना के संबंध में बिलकुल मौन धारण कर प्रकाशक ने अपनी व्यावहारिकता का परिचय दिया है।

इस पुस्तक का एक दूसरा अनुवाद चौधरी एण्ड संस, वाराणसी से भी प्रकाशित हुआ। इसके संबंध में भी विशेष सूचनाएँ नहीं मिलतीं। 'आँख की किरकिरी', अनु० लक्ष्मी नारायण 'सरोज' प्र० बिहार प्रकाशन मंदिर, सासाराम के एक विज्ञापन से ज्ञात होता है कि इसका एक अनुवाद 'राजतिलक' शीर्षक से १९५३ के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।

१९१० ई० में ही रवीन्द्रनाथ के दूसरे उपन्यास 'राजर्षि'[2] का अनुवाद इसी शीर्षक से इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक भी पं० जनार्दन झा थे। 'सरस्वती' १९१६, वर्ष १७, अंक १ में इस उपन्यास के संबंध में एक विज्ञापन छपा था, जिससे तत्कालीन पाठक-वर्ग की रुचि का पता चलता है। विज्ञापन यों था :— "....इस ऐतिहासिक उपन्यास के पढ़ने से बुरी वासना चित्त से दूर होती है, प्रेम का निश्छल भाव हृदय में उमड़ पड़ता है। हिंसा-द्वेष की बातों पर घृणा होने लगती है और ऊँचे-ऊँचे ख़यालात से दिमाग भर जाता है। इस उपन्यास को स्त्री-पुरुष दोनों निस्संकोच भाव से पढ़ सकते हैं।" उस समय का, अपने को सुसंस्कृत समझने वाला, पाठक इसी प्रकार की पुस्तकें पसंद करता था। इस कारण रवीन्द्रनाथ के उस कोटि के उपन्यास हिन्दी में खूब लोकप्रिय हुए।

'सरस्वती' के उपर्युक्त विज्ञापन से ही यह ज्ञात होता है कि १९१५ ई० तक इसका दूसरा सस्करण हो चुका था।

'राजर्षि' का एक दूसरा अनुवाद, १९५२ ई० में, कल्याण दास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। १९५६ में इसका दूसरा संस्करण प्रकाशित हुआ।[3]* अजय ब्रदर्स प्रकाशन, कल्यानी देवी साउथ, इलाहाबाद से भी इस पुस्तक का एक अन्य अनुवाद प्रकाशित हुआ था,

---

१. यह उल्लेखनीय है कि इंडियन प्रेस जैसी प्रतिष्ठित प्रकाशन-संस्था भी अनुवादों के प्रकाशन-काल, संस्करण तथा मुद्रित प्रतियों के संबंध में स्पष्ट सूचना देना अपना कर्तव्य नहीं समझती थी, अन्य प्रकाशकों की तो बात ही व्यर्थ है।

२. सर्वप्रथम इस उपन्यास के प्रथम २६ परिच्छेद 'बालक' में बंगाब्द १२९२ (आषाढ़ से माघ तक), ई० सन् १८८५-८६ में प्रकाशित हुए थे। पुस्तक रूप में यह १८८० ई० में प्रकाशित हुआ।

३. इस प्रकार के चिह्न (*) वाली सभी सूचनाएँ प्रकाशकों से प्राप्त की गयी हैं। सूचनाएँ मैंने १९५८ ई० में प्रयाग, वाराणसी इत्यादि स्थानों की यात्रा करके तथा प्रकाशकों से पूछताछ करके प्राप्त की थीं।

जिसके १९५८ ई० तक दो संस्करण निकल चुके थे।* 'आँख की किरकिरी', अनु० लक्ष्मी नारायण 'सरोज' प्र० बिहार प्रकाशन मंदिर, सासाराम के विज्ञापन से ज्ञात होता है कि उक्त प्रकाशन-संस्था से इस उपन्यास का एक अनुवाद १९५३ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।

१९१३ ई० में रवीन्द्रनाथ का "नौका डूबी"[1] नामक उपन्यास प० जनार्दन झा द्वारा "आश्चर्य घटना" शीर्षक से अनूदित होकर इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद का, १९२१ ई० में प्रकाशित एक संस्करण, मैंने देखा है। पुस्तक से इस बात का पता नहीं चलता कि यह दूसरा संस्करण है या तीसरा। इंडियन प्रेस, प्रयाग से, बाद में भी, इसके एकाधिक संस्करण निकले, पर इस संबंध में कोई सूचना दे पाना संभव नही है।

१९४९ ई० में धन्य कुमार जैन ने "उलझन" शीर्षक से इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद, हिन्दी ग्रथागार, कलकत्ता से प्रकाशित किया। इस अनुवाद के भी परवर्ती संस्करणों का पता लगाना जासूसी विभाग के योग्य कार्य है।

इस उपन्यास का एक दूसरा अनुवाद "नाव दुर्घटना" शीर्षक से धनप्रकाश अग्रवाल ने किया है, जो हिन्दी साहित्य भंडार, कर्नलगंज, प्रयाग से प्रकाशित है। अन्य सूचनाएँ रहस्य के पर्दे मे है। श्रीकृष्ण बर्मा नामक सज्जन ने भी इस उपन्यास का "नाव दुर्घटना" शीर्षक से एक अनुवाद किया था, जो हिन्दी पुस्तकालय, बुलानाला, बनारस से प्रकाशित हुआ था। इसका एक अनुवाद जयकृष्ण शुक्ल द्वारा अनूदित होकर अजय प्रेस व प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ था, जिसका दूसरा संस्करण १९५८ ई० के पूर्व निकल चुका था।* बिहार प्रकाशन मंदिर, सासाराम से प्रकाशित इस उपन्यास का एक अनुवाद १९५३ ई० के पूर्व हो चुका था।[2] इस संबंध मे यह उल्लेखनीय है कि इन अनुवादों की वास्तविक संस्करण-संख्या के अज्ञात रह जाने की पूरी संभावना के बावजूद यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि प्रत्येक अनुवाद के कम-से-कम, दो-दो, तीन-तीन संस्करण अवश्य हुए होंगे।

१९१३ ई० में ही रवीन्द्रनाथ के "चोखेर बाली"[3] नामक उपन्यास का अनुवाद रूपनारायण पाडेय द्वारा 'आँख की किरकिरी' शीर्षक से अनूदित होकर हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बबई से प्रकाशित हुआ था। 'सरस्वती' १९१४, वर्ष १५, अंक १ में इसकी समीक्षा प्रस्तुत करते हुए लिखा गया था कि, "इसमें मनुष्य के स्वाभाविक भावों के चित्र खींचकर उनके द्वारा मित्र की तरह—आत्मा की तरह—शिक्षा दी गयी है। स्वतः हृदय को गुदगुदा कर, परिणाम को दिखा-कर, अच्छे विचारों को विजय दिलानेवाली शिक्षा ही चिरस्थायी होती है।......इस उपन्यास

---

१. यह उपन्यास सर्वप्रथम 'बंग दर्शन' में बंगाब्द १३१०-१२ (सन् १९०३-०५) में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन १९०६ ई० में हुआ।

२. 'आँख की किरकिरी', अनु० लक्ष्मी नारायण, सरोज, प्र० बिहार प्रकाशन मंदिर, सासाराम, के विज्ञापन से प्राप्त सूचना।

३. यह उपन्यास 'बंगदर्शन' में बंगाब्द १३०८-०९ (ई० सन् १९०१-०२) में छपा था पुस्तक रूप मे यह सर्वप्रथम ई० सन १३०२ (ब० १३०९ में प्रकाशित हुआ।

मे इस बात पर पूरा-पूरा ध्यान रक्खा गया है। इस कथन से हिन्दी पाठकों व रुचि निर्णायकों की मनोवृत्ति का पता चलता है।

इस अनुवाद की संस्करण-संख्या की जानकारी मुझे नहीं है, किन्तु मेरा विश्वास है, अब तक इसके पाँच-छह से अधिक संस्करण अवश्य हो चुके होंगे।

इस उपन्यास के और भी अनेक अनुवाद प्रस्तुत किये गये हैं। इसका एक अनुवाद कमला प्रसाद राय ने किया, जो १९४४ ई० में हिन्दी पुस्तकालय, मोरा कुआ, बनारस से प्रकाशित हुआ। धन्यकुमार जैन द्वारा अनूदित होकर यह रवीन्द्र साहित्य मंदिर, कलकत्ता से भी प्रकाशित हुआ। इसका एक दूसरा अनुवाद लक्ष्मी नारायण 'सरोज' ने किया, जो बिहार प्रकाशन मंदिर, सासाराम से १९५३ ई० में प्रकाशित हुआ। इसका एक अनुवाद धनप्रकाश अग्रवाल ने प्रस्तुत किया जो गौतम पुस्तकालय, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। अजय प्रेस व प्रकाशन से भी '[illegible]' का एक अनुवाद १९५८ ई० के पूर्व प्रकाशित हुआ जिसके अनुवादक जयकृष्ण शुक्ल थे।* गजाराम गुप्त नामक किसी सज्जन ने इस उपन्यास का एक अनुवाद किया जो १९५८ ई० के पूर्व हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से प्रकाशित हो चुका था।*

रवीन्द्रनाथ के 'बउ ठाकुरानीर हाट'[1] नामक उपन्यास का अनुवाद सर्वप्रथम पं० जनार्दन झा ने किया, जो इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। 'सरस्वती' १९१६, भाग १७, अंक १ मे इसकी प्रशंसा निम्नलिखित रूप मे छपी थी :—"....उपन्यास कितना रोचक है, इसकी घटनाएँ कितनी महत्त्वपूर्ण हैं, उपन्यास का भाव कैसा उत्तम है, पाठकों पर इसकी कथाओं का कैसा प्रभाव पड़ता है इत्यादि बातें उपन्यास के पाठकों को स्वयं विदित हो जायगी।" इस अनुवाद का दूसरा संस्करण कदाचित् १९१५ ई० मे और तीसरा संस्करण १९[illegible] ई० मे हुआ। इस अनुवाद का एक दूसरा संस्करण उक्त प्रकाशन-संस्था से ही "सरस्वती सीरीज" में प्रस्तुत किया गया, जिसमें अनुवादक, संस्करण, प्रकाशन-काल आदि से संबद्ध कोई भी सूचना नहीं दी गयी। इस प्रकार इस अनुवाद के अनेक संस्करण प्रकाशित किये गये होंगे, जिसकी सूचना दे पाना संभव नहीं है। इस संबंध में यह स्मरणीय है कि रवीन्द्रनाथ की प्रथम औपन्यासिक कृति होने के कारण इसमें अपरिपक्वता बहुत है, फिर भी हिंदी पाठकों ने इसे खूब ही अपनाया। ऐसा हिंदी पाठकों की पठन अपरिपक्वता के कारण संभव हुआ, यह निर्विवाद है।

बाद में चलकर इस उपन्यास के और भी अनुवाद प्रस्तुत किये गये। जयकृष्ण शुक्ल द्वारा अनूदित होकर इसका एक अनुवाद अजय प्रेस व प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ, जिसका दूसरा संस्करण १९५८ ई० के पूर्व निकल चुका था। इसका एक अनुवाद [illegible] बिहारी नामक सज्जन ने प्रस्तुत किया, जो १९५६ ई० में प्रभात प्रकाशन, मथुरा से प्रकाशित हुआ।

---

१. 'बउ ठाकुरानीर हाट' रवीन्द्रनाथ का पुस्तक रूप में प्रकाशित प्रथम उपन्यास है। सर्वप्रथम यह 'भारती' नामक बंगला पत्रिका में बंगाब्द १२८८ आग्रहायण (१८८१ ई०) से बं० १२८९ आश्विन (१८८२ ई०) के बीच प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन १८८३ ई० में हुआ।

प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली से भी इस उपन्यास का एक अनुवाद, १९५९ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।[1]

रवीन्द्रनाथ के सर्वश्रेष्ठ उपन्यास 'गोरा'[2] का अनुवाद, हिन्दी में सर्वप्रथम १९२२ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से 'गौर मोहन' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। यह थोड़ा आश्चर्यजनक प्रतीत हो सकता है कि जहाँ रवीन्द्रनाथ के कलात्मक दृष्टि से अपरिपक्व उपन्यासों के हिन्दी में, एकाधिक संस्करण १९२० के पूर्व प्रकाशित हो चुके थे,वहाँ तब तक, 'गोरा' का अनुवाद प्रकाशित करने की तरफ प्रकाशकों का ध्यान नहीं गया था। पर इसका कारण स्पष्ट है। 'गोरा' लगभग ८०० पृष्ठों का दीर्घकाय उपन्यास है और ईसवी सन् के दूसरे दशक तक हिन्दी पाठक मोटे-मोटे सामाजिक उपन्यास पढ़ने के अभ्यस्त नहीं हुए थे। प्रकाशक भी, पाठकों की रुचि का अध्ययन किये बिना, आर्थिक हानि की आशंका से, दीर्घकाय उपन्यास प्रकाशित नहीं करते थे। पर जब रवीन्द्रनाथ के लघु आकार वाले उपन्यास अमित लोकप्रिय हुए, तब गोरा का अनुवाद प्रकाशित करने की तरफ भी प्रकाशकों का ध्यान गया, और इसकी खपत के लिए उन्हें चिन्ता भी नहीं करनी पडी।

'गौरमोहन' का दूसरा संस्करण १९८६ वि० (१९२९ ई०) में प्रकाशित हुआ। इसी बीच १९२४ ई० में प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर से इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद 'गोरा' शीर्षक से प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक पं० रूप नारायण पांडेय थे। इस अनुवाद के अन्य संस्करणों का पता लेखक को नहीं है। 'गोरा' का एक अन्य अनुवाद देव नारायण द्विवेदी ने किया था, जो सस्ता साहित्य पुस्तकमाला कार्यालय, बनारस से प्रकाशित हुआ था। इस अनुवाद के तीन संस्करणों की सूचना मिलती है।[3] 'गोरा' का एक अनुवाद राजेश दीक्षित ने भी प्रस्तुत किया, जिसका परिवर्धित द्वितीय संस्करण १९५६ ई० में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का एक दूसरा अनुवाद सन्मार्ग प्रकाशन, दिल्ली से १९५८ ई० में प्रकाशित हुआ। इसके रूपान्तरकार सुरेन्द्र शर्मा थे। १९५८ ई० के पूर्व आदर्श हिन्दी पुस्तकालय, अहियापुर, प्रयाग से भी इसका एक अनुवाद 'गोरा' शीर्षक से प्रकाशित हो चुका था।[4] अजय प्रेस व प्रकाशन, कल्यानी देवी साउथ, इलाहाबाद से भी 'गोरा' का एक अनुवाद प्रकाशित हुआ, जिसके अनुवादक जयकृष्ण शुक्ल है। १९५८ ई० के पूर्व इसके चार संस्करण प्रकाशित हो चुके थे।* प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली से भी 'गोरा' का एक अनुवाद, १९५९ ई० के पूर्व इसी शीर्षक से प्रकाशित हुआ था।[5] इस विवरण से हिन्दी में भी 'गोरा' की लोकप्रियता का अनुमान लगाया जा सकता है।

---

१. 'अपनी दुनिया', 'गांधी ग्रंथागार, वाराणसी, १९५९ ई०, के अंतिम पृष्ठ का विज्ञापन।

२. 'गोरा' सर्वप्रथम 'प्रवासी' नामक बंगला पत्रिका में बंगाब्द १३१४-१६ (१९०७-०९ ई०) में छपा था। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन बं० १३१६ (ई० सन् १३०९) में हुआ।

३. यह सूचना मुझे आर्यभाषा पुस्तकालय, (का० ना० प्र० स०) की पुस्तक-पंजी से प्राप्त हुई है। मूल पुस्तक के पुस्तकालय से खो जाने के कारण लेखक उसे देखने में समर्थ न हो सका।

४. आदर्श पुस्तकालय, इलाहाबाद की १९५८ ई० की सूची से प्राप्त सूचना।

५ अपनी दुनिया' गांधी ग्रंथागार वाराणसी १९५९ ई० के अंतिम पृष्ठ का विज्ञापन

१९२४ ई० में रवीन्द्रनाथ की 'पंचभूत' नामक पुस्तक का अनुवाद इसी शीर्षक से पाठक एण्ड कंपनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक देवबली सिंह थे। इसी पुस्तक का एक दूसरा अनुवाद १९५९ ई० मे, 'अपनी दुनिया' शीर्षक से, गांधी ग्रंथागार, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। यह पुस्तक हिन्दी में बिलकुल ही लोकप्रिय नहीं हुई। इसे उपन्यास की अपेक्षा अध्यात्म विषयक ग्रंथ कहना ज्यादा उचित होगा, यद्यपि हिन्दी में इसका अनुवाद और प्रचार उपन्यास के नाम पर ही किया गया है।

रवीन्द्रनाथ के 'घरे बाइरे'[1] नामक उपन्यास का अनुवाद प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर से 'घर और बाहर' शीर्षक से १९२४ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।[2] अनुवाद रघुकुल तिलक ने किया था। इसका दूसरा संस्करण १९२५ ई० में प्रकाशित हुआ।[3] यही अनुवाद १९४९ ई० में कल्याणदास एण्ड ब्रदर्स, वाराणसी से प्रकाशित हुआ। १९५७ ई० तक इसके पाँच संस्करण निकल चुके थे और कुल मिला कर इसकी ९००० प्रतियाँ मुद्रित हो चुकी थीं।* इस उपन्यास का एक अनुवाद जयकृष्ण शुक्ल ने प्रस्तुत किया, जो अजय प्रेस व प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। १९५८ ई० के पूर्व इसके भी दो संस्करण हो चुके थे।

रवीन्द्रनाथ के 'चार अध्याय नामक'[4] उपन्यास का अनुवाद हिन्दी में, सर्वप्रथम, १९३६ ई० में, इसी शीर्षक से, विश्वभारती कार्यालय, कार्नवालिस स्ट्रीट, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। इसका अनुवाद धन्य कुमार जैन ने प्रस्तुत किया था। इसका दूसरा संस्करण, इंडियन प्रेस, लिमिटेड इलाहाबाद से १९४७ ई० में प्रकाशित हुआ। इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद 'एला दीदी' शीर्षक से कृष्णवल्लभ नामक सज्जन ने प्रस्तुत किया, जो १९५७ ई० में किताब महल, जीरो रोड, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ। श्री कमला प्रसाद राय शर्मा ने भी इसका एक अनुवाद साहित्य सेवक कार्यालय, बनारस से प्रकाशित कराया।

रवीन्द्रनाथ के 'योगायोग'[5] शीर्षक उपन्यास का अनुवाद सर्वप्रथम श्री धन्य कुमार जैन ने, इसी शीर्षक से, प्रस्तुत किया था, जिसका दूसरा संस्करण १९४७ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ था। इसके प्रथम संस्करण की प्रकाशन-तिथि लेखक को ज्ञात नहीं हो सकी है।

---

१. यह उपन्यास सर्वप्रथम 'सुबुज पत्र' नामक पत्रिका में बं० १३२२ वैशाख-फाल्गुन (१९१५-१६) में प्रकाशित हुआ। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन ई० सन् १९१६ में हुआ।

२. गोरा, प्रकाश पुस्तकालय, कानपुर, १९२४ ई० के अंतिम पृष्ठ का विज्ञापन।

३. आर्यभाषा पुस्तकालय की पुस्तक सूची से प्राप्त सूचना। पुस्तकालय से पुस्तक के खो जाने के कारण लेखक उसे देखने में समर्थ न हो सका।

४. इस उपन्यास की रचना जून १९३४ ई० में हुई थी। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन बं० १३४१ आग्रहायण (१९३४ ई०) में हुआ।

५. यह उपन्यास सर्वप्रथम 'विचित्रा' नामक बंगला पत्रिका में बं० आश्विन १३३४–चैत्र १३३५ (ई० सन् १९२७-२९) में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन सर्वप्रथम बं० आषाढ़ १३३६ (१९२९ ई०) में हुआ। पहले यह 'तीन पुरुष' शीर्षक से प्रकाशित हुआ था, पर बाद में इसका शीर्षक बदलकर 'योगायोग' कर दिया गया।

उक्त अनुवादक ने इस उपन्यास का एक अनुवाद, 'कुमुदिनी' शीर्षक से विशाल भारत कार्यालय, कलकत्ता से भी प्रकाशित कराया था।[1] श्री गांधी ग्रंथागार, सोनपुरा, बनारस से भी इस उपन्यास का एक अनुवाद 'त्याग का मूल्य' शीर्षक से १९४५ ई० में प्रकाशित हुआ था। प्रथम सस्करण १५०० प्रतियों का था। इसका दूसरा संस्करण (दो हजार प्रतियों का) १९४७ ई० मे और तीसरा संस्करण (दो हजार प्रतियों का) १९४९ ई० में मुद्रित हुआ। इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद उपर्युक्त शीर्षक से ही जयकृष्ण शुक्ल द्वारा अनूदित होकर, अजय प्रेस व प्रकाशन, इलाहाबाद से १९५८ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।

रवीन्द्रनाथ का 'चतुरंग'[2] शीर्षक' उपन्यास सर्वप्रथम इसी शीर्षक से मोहनलाल बाजपेयी द्वारा अनूदित होकर विश्वभारती कार्यालय, कलकत्ता से १९४५ ई० में प्रकाशित हुआ। इसका एक अन्य अनुवाद 'बड़े चाचाजी' शीर्षक से, जनता पुस्तक मंदिर, नीचीबाग, बनारस सिटी से प्रकाशित हुआ था। प्रकाशक ने संस्करण, प्रकाशन-काल इत्यादि लिखने की आवश्यकता नही समझा है। इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद जयकृष्ण शुक्ल ने अजय प्रेस व प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित किया, जिसके १९५८ ई० के पूर्व दो संस्करण हो चुके थे।* इसका एक अनुवाद किताब महल, इलाहाबाद से १९५७ ई० में (प्रथम संस्करण ११०० प्रतियाँ) प्रकाशित हुआ। इसके अनुवादक थे कृष्णवल्लभ। पुष्पी कार्यालय, इलाहाबाद ने भी, १९५७ ई० में, इसका एक अनुवाद 'बड़े चाचाजी' शीर्षक से (चार हजार प्रतियों का संस्करण) प्रकाशित किया था।* चौधरी एण्ड संस, वाराणसी से भी इस उपन्यास का एक अनुवाद उपर्युक्त शीर्षक से १९५८ ई० के पूर्व प्रकाशित हुआ था।[3]

आलोच्य उपन्यासकार के 'दुइ बोन'[4] नामक उपन्यास का अनुवाद धन्य कुमार जैन ने 'दो बहनें' शीर्षक से किया, जो 'रवीन्द्र साहित्य' प्रथम भाग के अंतर्गत हिन्दी ग्रंथागार, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता मे प्रकाशित हुआ। प्रकाशन-काल तथा संस्करण संबंधी कोई सूचना पुस्तक मे नही दी हुई है। इसका एक दूसरा अनुवाद पं० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने प्रस्तुत किया जो १९४६ ई० में 'विश्वभारती' पत्रिका में क्रमशः प्रकाशित हुआ। पुस्तक रूप में यह अनुवाद १९५२ ई० में हिन्दी प्रकाशन समिति, विश्वभारती ग्रंथ विभाग, शांति निकेतन से प्रकाशित हुआ।

---

१. आर्यभाषा पुस्तकालय की पुस्तक सूची। पुस्तक के आरंभिक पृष्ठों के फटे रहने के कारण लेखक कोई सूचना प्राप्त करने में असमर्थ रहा।

२. यह उपन्यास सर्वप्रथम 'सबुज पत्र' नामक बंगला पत्रिका में बं० १३२१ (आग्रहायण-फाल्गुन) प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन---सर्वप्रथम बं० १३२३ (ई० सन् १९१६) में हुआ।

३. चौधरी एंड संस, वाराणसी का १९५८ ई० का सूचीपत्र।

४. यह उपन्यास सर्वप्रथम 'विचित्रा' नामक बंगला पत्रिका में बं० १३३९ आग्रहायण-फाल्गुन (१९३२-३३) में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में भी इसका प्रकाशन इसी वर्ष, १९३३ ई० में हुआ।

प्रस्तुत उपन्यासकार के 'मालंच'[1] नामक उपन्यास का अनुवाद 'फुलवाड़ी' शीर्षक से सर्वप्रथम मोहनलाल वाजपेयी ने प्रस्तुत किया जो 'विश्वभारती' पत्रिका में १९४४ ई० में प्रकाशित हुआ। पुस्तक रूप में इसका मुद्रण १९५१ ई० में हुआ। इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद 'फुलवाड़ी' शीर्षक से ही धन्य कुमार जैन ने किया, जिसे उन्होंने रवीन्द्र साहित्य, भाग ८ के अंतर्गत, हिन्दी ग्रंथागार, कलाकार स्ट्रीट, कलकत्ता से प्रकाशित किया। ग्रंथ में संस्करण अथवा प्रकाशन-तिथि संबंधी कोई सूचना नहीं दी हुई है। इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद 'मालिनी' शीर्षक से किताब महल, इलाहाबाद, से १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ। अनुवाद कृष्णवल्लभ ने किया था। इसका एक अन्य अनुवाद विपिन विहारी द्वारा 'उपवन' शीर्षक से अनूदित होकर १९५५ ई० मे प्रभात प्रकाशन, मथुरा से प्रकाशित हुआ था। इसी उपन्यास का एक अन्य अनुवाद कमलाप्रसाद राय शर्मा ने 'नीरजा' शीर्षक से प्रस्तुत किया था, जो साहित्य सेवक कार्यालय, बनारस से प्रकाशित हुआ था।[2]

रवीन्द्रनाथ के 'नष्टनीड़'[3] नामक उपन्यास का अनुवाद सर्वप्रथम धन्य कुमार जैन ने इसी शीर्षक से प्रस्तुत किया, जो हिन्दी ग्रंथ रत्नाकर कार्यालय, बंबई से १९४७ ई० में प्रकाशित हुआ। बाद में इसी अनुवाद का 'शीर्षक' बदलकर 'भाभी' शीर्षक से उपर्युक्त अनुवादक ने स्वयं 'रवीन्द्र साहित्य' भाग १४ के अंतर्गत हिन्दी ग्रंथागार, कलकत्ता से प्रकाशित किया। 'रवीन्द्र साहित्य' के अन्य सभी भागों की तरह इस भाग में भी संस्करण, प्रकाशन-काल आदि न देने की सावधानी बरती गयी है।

इस उपन्यास का एक अन्य अनुवाद जयकृष्ण शुक्ल ने 'चारुलता' शीर्षक से प्रस्तुत किया, जो १९५८ ई० के पूर्व अजय प्रेस व प्रकाशन, इलाहाबाद से प्रकाशित हो चुका था।[4] इसका एक अन्य अनुवाद 'चारुलता' शीर्षक से किताब महल, इलाहाबाद से १९५७ ई० में प्रकाशित हुआ था। अनुवाद कृष्णवल्लभ ने किया था। प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली से भी इस उपन्यास का एक अनुवाद 'नष्टनीड़' शीर्षक से १९५९ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।[4]

रवीन्द्रनाथ के 'शेषेर कविता'[5] नामक उपन्यास का अनुवाद धन्य कुमार जैन ने 'आखिरी

---

१. 'मालंच' सर्वप्रथम 'विचित्रा' में बं० १३४० आश्विन-अग्रहायण (१९३३) मे प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन बं० १३४० चैत्र (१९३४ ई०) में हुआ।

२. आर्यभाषा पुस्तकालय की पुस्तक सूची। पुस्तकालय से पुस्तक के खो जाने के कारण लेखक उसे देखने में समर्थ न हो सका।

३. यह उपन्यास सर्वप्रथम 'भारती' नामक बंगला पत्रिका में बं० १३०८ (१९०१ ई०) में प्रकाशित हुआ था। पुस्तक रूप में इसका प्रकाशन सर्वप्रथम 'रवीन्द्र ग्रंथावली' (हितवाणी कार्यालय) के अंतर्गत बं० १३११ (१९०४) में हुआ।

४. अपनी दुनिया, गांधी ग्रंथागार, वाराणसी, १९५९ ई० के अंतिम पृष्ठ का विज्ञापन।

५. यह उपन्यास सर्वप्रथम 'प्रवासी' नामक बंगला पत्रिका में बं० १३३५ भाद्र-चैत्र (१९२८-२९ ई०) में प्रकाशित हुआ। पुस्तक रूप में इसका मुद्रण बं० १३३६ (१९२९ ई०) मे हुआ।

कविता शीर्षक से प्रस्तुत किया जिसे उन्होंने रवीन्द्र साहित्य भाग १२ के अंतर्गत रवीन्द्र साहित्य मंदिर, कलाकार मार्ग, कलकत्ता से सर्वप्रथम १९४४ ई० में प्रकाशित किया। इस पुस्तक के तृतीय संस्करण (१९५५ ई०) में पुस्तक के तीनों संस्करणों का विवरण दिया हुआ है, जिससे ज्ञात होता है कि इसका दूसरा संस्करण १९५१ ई० में हुआ था। इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि १९५५ ई० तक 'रवीन्द्र साहित्य' के अधिकांश भागों के दो-दो, तीन-तीन संस्करण अवश्य हो चुके होंगे। इस उपन्यास का एक दूसरा अनुवाद इसी शीर्षक से प्रभात प्रकाशन, चावड़ी बाजार, दिल्ली से १९५९ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।[1]

रवीन्द्रनाथ की 'मे' नामक पुस्तक का अनुवाद धन्य कुमार जैन ने 'वह' शीर्षक से उपन्यास के नाम पर किया और उसे 'रवीन्द्र साहित्य', भाग २६ के अंतर्गत रवीन्द्र साहित्य मंदिर, कलकत्ता से १९५५ ई० में प्रकाशित किया। हिन्दी में यह पुस्तक लोकप्रिय नहीं हुई।

उपर्युक्त विवरण से हिन्दी पाठक-वर्ग के बीच रवीन्द्र के उपन्यासों की लोकप्रियता सुसिद्ध हो जाती है। इससे यह भी प्रमाणित होता है कि वर्तमान शताब्दी के चौथे दशक से इस लोकप्रियता में अतिशय वृद्धि हुई है। इसके बहुत से कारण हो सकते हैं; जैसे, पाठक-वर्ग का विस्तार, पठन-रुचि और अभ्यास का विकास, प्रकाशकों की वृद्धि आदि; पर मेरी समझ में, पिछले दो दशकों में हिन्दी पाठकों के बीच रवीन्द्र के उपन्यासों की लोकप्रियता में वृद्धि का एक प्रमुख कारण हिन्दी उपन्यास-पाठकों की पठन-परिपक्वता का गुणात्मक विकास भी है। रवीन्द्र के उपन्यास निश्चय ही, थोड़े विकसित पाठक की अपेक्षा रखते हैं, एक कल्पनाशील पाठक पाठक-वर्ग की, जो लेखक के साथ चलने में समर्थ हो सके। उदाहरण के लिए, इनके किसी भी उपन्यास में कथा का 'अंत' नहीं दिखाया गया है, जिसकी इच्छा सामान्य पाठक को अक्सर ही रहती है। रवीन्द्रनाथ संकेत-मात्र करके, पाठकों को 'अंत' की कल्पना स्वयं करने के लिए छोड़ देते हैं। 'योगायोग' में अविनाश (मधुसूदन के पुत्र) के जन्म, कुमुदिनी की आत्महत्या अथवा मधुसूदन से समझौता—पाठक कल्पना करने के लिए स्वतन्त्र हैं—की कल्पना पाठक को स्वयं करनी है। 'नौका डूबी' के अंत में रमेश और हेमनलिनी का विवाह नहीं दिखाया गया है, इसे भी लेखक ने पाठकों के लिए ही छोड़ दिया है। 'गोरा' और 'चोखेर बाली' का भी अंत उपर्युक्त उपन्यासों की तरह 'सहसा' हो गया है। तात्पर्य, कि रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों को समझने के लिए पाठक का कल्पनाप्रवण होना आवश्यक है, अन्यथा कहानी की परिणति उसकी समझ में आ ही नहीं सकती। इन उपन्यासों के हास्य, चरित्रगत सूक्ष्म विशेषताएँ, वैचारिक जटिलताएँ आदि भी सामान्य पाठकों के लिए प्राशुलभ्य हैं।

आरंभ में, जिस समय रवीन्द्र के उपन्यास हिन्दी में अनूदित होने आरंभ हुए थे, हिन्दी में तिलिस्मी, जासूसी और घटनाप्रधान सामाजिक उपन्यासों की धूम थी। उस समय के हिन्दी उपन्यासों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि उनकी रचना मानों अत्यंत अपरिपक्व, अल्पबुद्धि, कल्पनाहीन, अर्धशिक्षित पाठकों के लिए हो रही थी। हिन्दी के उद्भट पाठक (High Brow Readers) इन उपन्यासों को बड़ी उपेक्षा की दृष्टि से देखते थे, और उस समय उपन्यास-पाठक

---

१ अपनी दुनिया गांधी , वाराणसी १९५९ ई० के अंतिम पृष्ठ का विज्ञापन

अच्छी नजर से नहीं देखे जाते थे बंगला उपन्यासों को यह श्रेय मिलना ही चाहिए कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास को भी आभिजात्य प्रदान कराया।

ऐसे ही समय में रवीन्द्र के उपन्यासों का आगमन हिन्दी में हुआ। उनके आरंभिक उपन्यास—बऊ ठाकुरानीर हाट, मुकुट, राजर्षि आदि—पर बंकिम का प्रभाव स्पष्ट है और वे अपनी स्वच्छ घटनाओं, शिक्षाप्रदता, मनोरंजकता आदि को लेकर ही हिन्दी पाठकों में लोकप्रिय हुए। पर रवीन्द्र के उपन्यासों को इस बात का श्रेय मिलना ही चाहिए कि उन्होंने हिन्दी उपन्यास-पाठकों को परिपक्व, कल्पनाशील और प्रबुद्ध पाठक बनने को बाध्य किया। उपन्यास-क्षेत्र में प्रेमचंद के आगमन के पूर्व रवीन्द्रनाथ के 'आंख की किरकिरी' (चोखेर बाली) और 'आश्चर्य घटना' (नौका डूबी) जैसे कलात्मक उपन्यास ही हिन्दी पाठकों की रुचि का परिष्कार कर रहे थे। हम देख चुके है कि 'गोरा' को हिन्दी पाठको के बीच स्थान बनाने मे कुछ देर लगी। पर एक बार हिन्दी पाठकों के बीच जब यह प्रवेश पा गया, तो फिर दिनोंदिन उसकी लोकप्रियता बढ़ती ही गयी। यह बात दावे के साथ कही जा सकती है कि आज हिन्दी के प्रौढ़ पाठकों के बीच रवीन्द्रनाथ के कुछ उपन्यास—गोरा, नाव दुर्घटना और आंख की किरकिरी—अन्य किसी भी हिन्दीतर उपन्यास की अपेक्षा अधिक सुज्ञात हैं।

रवीन्द्रनाथ ने कुल मिलाकर चौदह उपन्यासों की रचना की थी,[१] जिनमें पांच—चोखेर बाली, नौका डूबी, गोरा, घरे बाइरे और योगायोग—को छोड़कर शेष लघु उपन्यास की कोटि में परिगणित होने योग्य है। यह बात बिना किसी हिचक के साथ कही जा सकती है कि लघु उपन्यास लिखने में रवीन्द्रनाथ को सफलता नहीं मिली है। इनके बिलकुल आरंभिक उपन्यास 'बऊ ठाकुरानीर हाट', 'मुकुट' और 'राजर्षि' तो बच्चों के लिए या नितान्त अपरिपक्व पाठकों के लिए ही संतोषप्रद हो सकते हैं। ये उपन्यास घटना प्रधान हैं और जीवन का विश्वसनीय चित्र नहीं उपस्थित करते? चरित्र-निर्माण की दृष्टि से तो ये उपन्यास नितान्त बेकार हैं। इन उपन्यासों में रवीन्द्रनाथ का बालखग उपन्यासकार अभी जैसे साहित्य-गगन में उड़ने के लिए अपने पंख ही तौल रहा है। पर उनके परवर्ती लघु उपन्यास भी, जब कि रवीन्द्रनाथ अपने 'नौका डूबी' और 'गोरा' जैसे श्रेष्ठ उपन्यास लिख चुके थे, औपन्यासिक मानदंड पर खरे नहीं उतरते। इन उपन्यासों मे रवीन्द्र का कवि बार-बार प्रमुख हो उठा है, और भावना के प्रवाह में उपन्यास में चित्रित जीवन का ताना-बाना बिलकुल ही बिखर गया है। यों इन उपन्यासों में भी पात्रों का मनोवैज्ञानिक चित्रण और उनका आंतरिक संघर्ष प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया गया है, किन्तु इनके शिल्प में वह संघटन, वह अंत: सूत्रता, वह नाटकीय दृश्यात्मकता नहीं है, जो लघु उपन्यासों के लिए नितान्त अपेक्षित है।' 'नष्टनीड़' और 'मालंच' को तो उपन्यास के बदले 'लंबी गद्यमय कविता' कहना ज्यादा उपयुक्त है। 'चार अध्याय' का शिल्प नितान्त ढीला-ढाला, तथा उद्देश्य अस्पष्ट है। ऐसा प्रतीत होता है कि, जैसे उपन्यासकार अंत तक यह निश्चित ही नहीं कर

---

१. आरंभ में हमने रवीन्द्र के १७ उपन्यासों का उल्लेख किया है, किंतु, जैसा कि हमने आरंभ में ही निर्देश कर दिया है, 'करुण' पुस्तक रूप में कभी प्रकाशित ही नहीं हुआ और 'पंचभूत' तथा 'से' को उपन्यास की कोटि में नहीं रखा जा सकता।

पाया हो कि उसे क्या लिखना है। रवीन्द्रनाथ के लघु उपन्यासों में 'चतुरंग', 'शेषेर कविता' और 'दुइ बोन' अंतर्द्वन्द्व के चित्रण तथा शिल्पगत संघटन की दृष्टि से ज्यादा सफल हैं।

रवीन्द्रनाथ ठाकुर की औपन्यासिक प्रतिभा के दर्शन हमें उनके बड़े आकार वाले उपन्यासों मे ही होते हैं। उपन्यास निर्विवादत: जीवन का चित्र माना जाता है, और उपन्यासकार का कार्य जीवन की सृष्टि करना है। लार्ड डेविड सेसिल के अनुसार उपन्यास एक ऐसी कलाकृति है, जो हमारा परिचय एक जीवित संसार से, एक ऐसे संसार से जो वास्तविक संसार से---जिसमें हम रहते है---बहुत मिलता जुलता है, पर जिसका अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है, करा देती है।[1] रॉल्फ फॉक्स के शब्दों में "उपन्यास मात्र कथात्मक गद्य नहीं है, यह मानव जीवन का गद्य समस्त मानव जीवन को ग्रहण करने तथा उसे अभिव्यक्ति प्रदान करने वाली यह पहली कला है।[2] रवीन्द्रनाथ के उपन्यास, इस कसौटी पर खरे सिद्ध होते हैं। जीवन के जिस पक्ष का चित्रण रवीन्द्रनाथ ने किया है, वह अपनी व्यापकता और गहराई में उनके उपन्यासों में उपस्थित है। मानवी संबधों, सामाजिक प्रश्नों, स्नेह के नाना रूपों और रहन-सहन के वैविध्य का चित्रण करने में रवीन्द्रनाथ अत्यन्त निपुण हैं। इनके उपन्यासों में आभिजात्य बंगाली समाज मानों सदेह उपस्थित हो गया है। रवीन्द्रनाथ को इस समाज का सूक्ष्म ज्ञान है और इसे उसके प्रत्येक विवरण के साथ प्रस्तुत करने का उन्होंने सफल प्रयास किया है। इस कथन से यह भ्रम नहीं उत्पन्न होना चाहिए कि रवीन्द्र के उपन्यास आंचलिक है। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों की, विशेषत: गोरा की, प्रमुख विशेषता यह है कि, इनमें पात्रों को एक व्यापक भूमिका पर, एक व्यापक मानवीय धरातल पर प्रतिष्ठित किया गया है।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों का प्रमुख विषय प्रेम है, पर यह प्रेम शरत् के उपन्यासों की तरह आदर्श या काल्पनिक नहीं है। रवीन्द्र के पात्र जिसको प्यार करते हैं, उसे पूर्णत: पाने का प्रयास करते हैं, शरत् के पात्रों के तरह उन्हें मौन व्यथा सहने, भीतर-भीतर घुलने नहीं आता। 'आँख की किरकिरी' की मायावती का बरसाती नदी की तरह सीमाओं का उल्लंघन कर आगे बढ़ने वाला प्रेम भारतीय-साहित्य में अपने ढंग का अनोखा है। इस उद्दाम प्रवाह के सामने शास्त्र के नियम नही टिक पाते, जो भी सामने आता है उसे या तो झुकना पड़ता है या टूट जाना पड़ता है। यह प्रेम इस बात की परवाह नही करता कि रास्ते में कौन वृक्ष टूट रहा है, किसकी लहलहाती हुई खेती चौपट हो रही है और किसका बना बनाया संसार मिट्टी में मिल रहा है। इस प्रेम को हम अंधा कह सकते है, पर इसकी शक्तिमत्ता, इसका वेग, इसका दुर्गम प्रवाह हमें प्रभावित किये बिना नहीं रहता।

---

१. हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास (डा० प्रताप नारायण टंडन, प्र०, हिन्दी साहित्य भंडार, लखनऊ, १९५९), पृष्ठ ५६ पर उद्धृत।

२. The novel is not merely fictional prose, it is the prose of man's life, the first art to attempt to take the whole man and give him expression. डा० प्रताप नारायण टंडन, हिन्दी उपन्यास में कथा-शिल्प का विकास, प्र०, हिन्दी साहित्य भंडार प्रथम १९५९, पृ० ५५ पर में उद्धृत

कुंज की वासना और तज्जनित ईर्ष्या का वेग भी बड़ा उग्र है। नौका डूबी के अक्षय की ईर्ष्या थोड़ी अस्वाभाविक हो गयी है। उसे के रूप में चित्रित किया गया है। किंतु कुंज की माया के प्रति आसक्ति और तज्जनित ईर्ष्या स्वाभाविक और अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। कुंज की अंध-वासना पाठकों को अच्छी नहीं लगती, पर पाठक उससे घृणा भी नहीं कर पाता। इस अंधप्रेम के कारण कुंज का अपनी माता को कष्ट देना बड़ा करुण प्रतीत होता है। इस प्रकार की, संसार को—जननी की ममता तक को—भुला देने वाली वासना समाज के लिए अमंगल विधायक चाहे जितनी हो, उसका चित्रण उपन्यासकार ने अत्यन्त विश्वसनीय रूप में किया है।

प्रेम को लेकर उत्पन्न अन्तर्द्वन्द्व का चित्रण रवीन्द्रनाथ ने अपने सभी उपन्यासों में किया है बहुधा संयोगाधृत घटनाओं की सहायता से ये अंतर्द्वन्द्व उपस्थित किये गये हैं। 'नौका डूबी' के रमेश का मानसिक संघर्ष संयोगावृत घटना—नाव दुर्घटना —पर ही आधारित है। नाव दुर्घटना के फलस्वरूप रमेश और कमला एक-दूसरे से पति-पत्नी भाव से मिलते हैं, यद्यपि वास्तविकता यह है कि कमला नलिनाक्ष की विवाहिता है; बाद में रमेश को इस रहस्य का पता चल जाता है, जबकि कमला इससे पूर्णतः अनभिज्ञ है। नियति रमेश और कमला को अजीब उलझन पूर्ण परिस्थिति में डाल देती है। रमेश वास्तविकता को जान कर व्याकुल हो उठता है। वह क्या करे ? कमला के मामा या पति का पता लगाकर उसे उनके यहां भेज दे—पर क्या वे उसे शरण देंगे ?—अथवा उसे अपनी पत्नी के रूप में स्वीकार कर ले। पर यह भी तो अधर्म ही होगा। उधर रमेश हेमनलिनी को प्यार करता है। प्रेम, धर्म और मानवीयता का यह संघर्ष अद्‌भुत है। उपन्यासकार ने रमेश के मानसिक संघर्ष का बड़ा ही मार्मिक चित्रण किया है। 'चोखेर बाली' में कुंज के जीवन में माया का प्रवेश संयोग के फलस्वरूप ही होता है। 'गोरा' मे विनय का परेश बाबू के परिवार से परिचय एक आकस्मिक घटना के कारण ही होता है और यदि ललिता क्षणिक उत्तेजना में, मजिस्ट्रेट के कृत्य से क्षुब्ध होकर विनय के साथ स्टीमर पर नहीं चली आती और स्टीमर तुरंत खुल नहीं जाता, तो विनय को उन अंतर्द्वन्द्वों से नहीं गुजरना पड़ता जिन्हें हम उपन्यास में देखते हैं। पर एक बार उपन्यासकार जब किसी संयोगाधृत परिस्थिति का निर्माण कर देता है, तब उस परिस्थित मे पड़े पात्रों की भावनाओं की परतों को एक-एक कर खोलने में उसे कोई कठिनाई नहीं होती। पात्रों के मन के भीतर प्रवेश कर उनके एक-एक स्तर को सामने रख देने में रवीन्द्रनाथ अत्यन्त कुशल हैं। रवीन्द्र मानव भावनाओं के अद्‌भुत चित्रकार हैं। कभी-कभी उनका एक शब्द हृदय के इतने भावों को व्यक्त कर देता है, जितने पृष्ठ के पृष्ठ रँग डालने पर भी दूसरे उपन्यासकार नहीं कर पाते। पात्रों की भावनाओं का ऐसा विश्वसनीय चित्रण हमें भारतीय उपन्यासो में कम ही देखने को मिलता है।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों का वैशिष्ट्य उनके नारी पात्रों के चित्रण में प्रकट हुआ है। रवीन्द्र की नारियाँ दर्द की प्रतिमाएँ है, पर शरद की नारियों की अतिशय भावुकता से वे ग्रस्त नहीं है। शरत के नारी पात्रों की तरह वे मोम की भाँति गल जाने वाली नहीं, वरन् अपनी आभा में उद्दीप्त और कभी-कभी दूसरों के पंख जला देनेवाली भी हैं। स्वाभिमान तो जैसे उनमें कूट-कूट कर

---

१ आँख की किरकिरी।

भरा हुआ है। रवीन्द्रनाथ का कोई भी नारी पात्र आत्मसमर्पण करना—यदि इसमें तनिक भी उपेक्षा का भाव मिला हुआ है—गल जाना नहीं जानता। रवीन्द्र की नारियाँ अपना अधिकार स्वयं अपने हाथ में लेकर चलती हैं, वे किसी के आगे क्षमा-प्रार्थिनी नही बनती। विशेषकर आपत्ति-काल मे उनकी अधिकार-भावना अवश्य सजग हो जाती है। विपत्ति पड़ने पर रवीन्द्र के नारी-पात्र टूटते नही, उस समय अपने पैरो पर खड़ा होने की अपूर्व क्षमता उनमें आ जाती है। 'नौका डूबी' की कमला और 'चोखेर बाली' की माया दोनो पहले तो अत्यन्त निर्बल अबला के रूप मे दिखाई पड़ती हैं, पर समय आने पर उनमें एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, एक ऐसा स्वाभिमान जाग जाता है, जो पाठकों को अभिभूत किये बिना नहीं रहता। 'गोरा' की ललिता आरभ से ही एक विद्रोही स्वभाव की नारी के रूप में चित्रित हुई है, जिसका चरित्र परिस्थितियो मे पडकर और भी सशक्त तथा तेजदीप्त हो जाता है। 'योगायोग' की कुमुदिनी भी आरभ में एक दुर्बल नारी के रूप में हमारे सामने आती है किंतु बाद में उसका विद्रोही स्वभाव, अपनी सपूर्ण तीव्रता में, हमारे सामने उपस्थित होता है। कुमुदिनी में हम एक ऐसी नारी के दर्शन करते है, जो टूट जाना पसंद करती है, पर झुकना नहीं जानती। 'नौका डूबी' की हेमनलिनी, 'चोखेर बाली' की करुणा और 'गोरा' की सुचरिता के चरित्र बड़े प्रिय मालूम पड़ते हैं, शील, नम्रता, प्रिय-भाषण, धैर्य, स्नेह आदि की ये प्रतिमूर्ति हैं किंतु तेजस्विता इनके चरित्र का भी प्रधान अग है। इस प्रकार नारियों की तेजस्वी मूर्ति गढ़ने में रवीन्द्र को दुर्लभ सफलता मिली है।

पुरुष पात्रों के चरित्र-निर्माण में रवीन्द्रनाथ उतने सफल नहीं है। गोरा के अतिरिक्त रवीन्द्रनाथ का अन्य कोई पुरुष-पात्र पाठकों को प्रभावित नहीं करता। अधिकांश पात्र परिस्थितियो की धारा में बहते दिखायी देते हैं। हार्डी के उपन्यासों की तरह, रवीन्द्रनाथ के पुरुष पात्रों का भाग्य नियति द्वारा निर्णीत होता है। नारी पात्रो की तरह उनका अपना स्वतंत्र व्यक्तित्व नही है। रवीन्द्र के समस्त उपन्यास साहित्य में, पुरुष पात्रों में, केवल गोरा ऐसा है जो अपने सशक्त व्यक्तित्व, प्रबल इच्छा शक्ति और उद्धृत स्वाभिमान से युक्त है। तेजस्विता, देशप्रेम और चारित्रिक दृढ़ता का जहाँ तक प्रश्न है, गोरा समस्त भारतीय उपन्यास-साहित्य में अपना विशिष्ट स्थान रखता है।

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों के कुछ पात्र पाठकों के बड़े प्रिय हो जाते हैं। 'नौका डूबी' के चक्रवर्ती चाचा, तथा नलिनाक्ष की माँ, 'चोखेर बाली' का बिहारी 'योगायोग' की मोती की माँ, 'गोरा' का सतीश तथा गोरा की मां आदि गौण पात्र होते हुए भी पाठकों के आत्मीय बनने में सर्वथा समर्थ हुए हैं। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों की कथा हम भूल सकते हैं पर इन पात्रों को भूलना कठिन है। इनके चरित्र मे हृदय की निश्छल सरलता, हँसी, प्यार और सहानुभूति का भाव इस प्रकार भरा हुआ है कि पाठक इन्हें निकट पाकर आह्लादित हो जाता है।

कान्ता सम्मित प्रेम के अतिरिक्त स्नेह के अन्यान्य रूपों का, जो मानव जीवन में देखने को मिलते हैं, अंकन भी रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में हुआ है। माता-पुत्र का स्नेह, बहन-भाई का स्नेह, मित्र-मित्र का स्नेह, सखी-सखी का स्नेह, पिता-पुत्री का स्नेह, ये सभी उनके उपन्यासो मे सफलतापूर्वक चित्रित हुए हैं। 'गोरा' में रवीन्द्रनाथ प्रेम के चित्रण के अतिरिक्त विस्तृत समाज की व्यापक पर भी दृष्टि डालते हैं का देशप्रेम इस में

मुखरित है। पर रवीन्द्र का देशप्रेम केवल अँग्रेजों के प्रति या घृणा के रूप में व्यक्त नहीं होता वे देश का वास्तविक रूप में उद्धार करना चाहते हैं। गोरा चाहता है कि भारतवासी अपनी संस्कृति, अपनी सभ्यता और अपने देश पर यथार्थ रूप में गर्व कर सकें। वह अंग्रेजों से घृणा करता है, पर उसका वास्तविक उद्देश्य लोगों के मन में देश तथा देशवासियों के प्रति प्रेम और श्रद्धा उत्पन्न करना है। गोरा रवीन्द्रनाथ की उदार राष्ट्रीय भावना का जीता-जागता प्रतीक है।

रवीन्द्रनाथ ने अपने उपन्यासों में हिन्दू समाज के दोषों का भी सफल चित्रण किया है। समाज में स्त्रियों की दुरवस्था का चित्रण स्थान-स्थान पर किया गया है। इसी कारण रवीन्द्रनाथ की अधिकांश स्त्रियाँ विद्रोहिणी के रूप में हमारे सामने आती हैं। रवीन्द्रनाथ विधवाओं के संबंध में हिन्दू समाज के नियमों के कायल नहीं थे, उनके उपन्यास की विधवाएँ इन नियमों का अक्सर ही उल्लंघन करती हैं। रवीन्द्रनाथ समाज-सुधार के भी समर्थक थे, पर आरम्भ में विधवा-विवाह चित्रित करने में वे थोडा हिचकते दिखायी पड़ते हैं। 'चोखेर बाली' में लेखक माया और बिहारी का विवाह सम्पन्न नहीं होने देता। माया धर्म की दुहाई देकर बिहारी के विवाह-प्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। माया का यह निर्णय उसके चरित्र के लिए स्वाभाविक नहीं जान पड़ता, यह लेखक के द्वारा जबरदस्ती लादा गया मालूम पड़ता है। बिहारी का चरित्र भी माया के निर्णय को बिना किसी प्रतिवाद के चुपचाप मान लेने में बड़ा दुर्बल हो गया है। यों औचित्य की दृष्टि से—जो रवीन्द्र के उपन्यासों में अन्यत्र नहीं दिखायी पड़ता—चाहे इसे उचित मान लिया जाए, पर यह उपन्यास की स्वाभाविक परिणति नहीं है। 'चतुरंग' में विधवा-विवाह का उल्लेख-मात्र किया गया है। इस हिचक का कारण, कदाचित्, सामाजिक दबाव रहा होगा। हिन्दू समाज में विधवा-विवाह घोर पाप माना जाता रहा है, और आज से पचीस-तीस वर्ष पहले तो इसके विरोधी बहुत ही अधिक संख्या में थे।

'गोरा' में अंतर्कथाओं के माध्यम से समाज की बुराइयाँ, कुशिक्षा, जाति-पाति के अंध-विश्वास, नारियों पर पुरुष समाज के अत्याचार, पढ़े-लिखे भारतवासियों की अन्य देशवासियों के प्रति घृणा के भाव आदि का भी चित्रण किया गया है। सनातन हिंदू धर्म और ईसाई धर्म प्रभावापन्न ब्राह्म संप्रदाय का द्वंद्व दिखाकर, दोनों की दुर्बलताओं की तरफ इस उपन्यास में संकेत किया गया है। रवीन्द्रनाथ संप्रदाय की संकीर्ण सीमाओं के ऊपर एक ऐसे मानवधर्म के आकांक्षी थे, जिसकी नींव उदारता, प्रेम, सद्भाव और सहनशीलता पर निर्मित होती है। 'गोरा' के परेश बाबू इस विचार का प्रतिनिधित्व करते हैं।

इस प्रकार 'गोरा' को सम्पूर्ण जीवन का चित्र कहा जा सकता है, जबकि रवीन्द्र के अन्य उपन्यासों में चित्रित जीवन एकांगी है।

बंकिम के समान रवीन्द्रनाथ भी अपने उपन्यासों में सहज हास्य का वातावरण उपस्थित करने में अत्यंत कुशल हैं। अंतर इतना ही है कि रवीन्द्र का हास्य बंकिम से अधिक सूक्ष्म, परिष्कृत और कलात्मक है। बिलकुल साधारण पाठक तो इसे समझ ही नहीं सकता, जबकि बंकिम के हास्य का आनंद साधारण से साधारण पाठक भी उठा सकते हैं। रवीन्द्र के कुछ पात्र जैसे 'नौका डूबी' के चक्रवर्ती चाचा, 'योगायोग' का नवीन और 'चोखेर बाली' का बिहारी तो ———— की संज्ञा से विभूषित किये जा सकते हैं।

शिल्प की दृष्टि से विचार करने पर रवीन्द्र के उपन्यासों में चिन्ताजनक त्रुटियाँ लक्षित होती हैं। पर्सी लब्बक के अनुसार[1] उच्च कोटि के उपन्यासों में शिल्प की दो विधियाँ अक्सर अपनायी जाती हैं, जिन्हें उन्होंने चित्रात्मक और नाटकीय पद्धति कहा है। चित्रात्मक पद्धति वाले उपन्यासों में, जैसे 'युद्ध और शांति' में, उपन्यासकार वर्णन की पद्धति अपनाता है और जीवन के बहुविध रूपों का चित्र प्रस्तुत करता चलता है। नाटकीय शिल्पवाले उपन्यासों में, जैसे फ्लाबर्ट के 'मदाम बोवरी' में, जीवन को नाटकीय दृश्यों के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में इन पद्धतियों के उपयोग की चर्चा हम तनिक बाद मे करेंगे। अभी हमें रवीन्द्रनाथ की उन शिल्पगत त्रुटियों का उल्लेख करना है, जो उनके कुछ उपन्यासों में, प्रथम दृष्टि में ही परिलक्षित होती हैं।

आरंभिक कथाओं के युग में, उपन्यास के जन्म के पूर्व, कथाकार पाठकों के समक्ष किस्सागो या वार्त्ताकार के रूप मे उपस्थित होता था। किस्सागो घटनाओं की स्वाभाविकता-अस्वाभाविकता की चिंता नहीं करता था, आवश्यकता पड़ने पर वह पाठकों को संबोधित करके, उनके सामने आकर घटनाओं या विचारों का स्पष्टीकरण करने में भी नहीं हिचकता था। घटनाओं का उदाहरण रूप में प्रयोग करके नीति या उपदेश की बाते कहना भी वह अपना उद्देश्य समझता था। इस प्रकार प्राचीन कथाकार कहानी में पाठकों के समक्ष सर्वदा बना रहता था। आधुनिक उपन्याम-पाठक उपन्यास में प्रस्तुत जीवन और अपने बीच लेखक की दस्तंदाजी पसद नहीं करता। आज का उपन्यासकार नाटककार की तरह पाठकों से यथासंभाव अपनी दूरी बनाये रहना ही अपना कर्तव्य समझता है।

पर रवीन्द्रनाथ अपने कुछ उपन्यासों में प्राचीन किस्सागो की तरह, सर्वज्ञता के रूप मे उपस्थित होते हैं। 'योगायोग' और 'चोखेर बाली' में उनका यह रूप बड़ा खटकने वाला है। 'योगायोग' मे वे पाठकों से प्रत्यक्ष संबंध स्थापित कर कहानी का वर्णन करते हैं। इस उपन्यास का आरंभ बिलकुल एक किस्सागो की कहानी की तरह होता है:—"कहानी यहीं से आरभ होती है किन्तु इस आरंभ की भी एक कहानी है।"[2] इस उपन्यास के तीसरे परिच्छेद का आरभ "अब लड़कीवालों का हाल सुनो", इस वाक्य से होता है। एक स्थान पर उपन्यासकार लिखता है, "इसके बाद जो बातचीत होती रही वह पाठकों के लिए बेकार है।"[3] उपन्यास के आरभ मे बहुत सारी घटनाएँ एक साथ वर्णित कर दी गयी हैं, पर विकसित पाठक के मन पर इन घटनाओ का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। 'चोखेर बाली' के आरंभ में ही कुछ घटनाएँ इतनी त्वरा के साथ घटती हैं कि उन पर अल्प बुद्धि पाठक ही विश्वास कर सकते हैं। माया का चट विवाह और पट विधवा हो जाना, करुणा और कुंज का विवाह, ये घटनाएँ, विशेषकर पहली, खटकनेवाली है। ऐसा प्रतीत होता है, मानों घटनाएँ लेखक के आदेश पर घट रही हों। ये स्वाभाविक और

---

१. पर्सी लब्बक, द क्राफ्ट आफ फिक्शन, जोनाथन केप, थर्टी बेडफोर्ड एस्क्वायर, लंदन, १९६०।

२. त्याग का मूल्य (योगायोग), गांधी ग्रंथागार, बनारस।

३ उपरिवत पृष्ठ १७५।

अनिश्चित नहीं हैं, जैसा कि हमारे जीवन में होता है, बल्कि लेखक के इशारे पर नाचने वाली है।

रवीन्द्रनाथ भी नितान्त साधारण उपन्यासों की तरह, पाठकों को उपन्यास के पात्रो के संबध में अपनी धारणा बनाने के लिए स्वतंत्र नहीं छोड़ते बीच-बीच में वे अपनी टिप्पणियों के द्वारा सामान्य पाठकों को प्रसन्न और प्रबुद्ध पाठकों को क्षुब्ध करते ही हैं। 'गोरा' में भी, जो रवीन्द्रनाथ का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है, उपन्यासकार टिप्पणीकर्त्ता के रूप में स्थान-स्थान पर उपस्थित है, और यह खटकता है। विकसित उपन्यास पाठक नहीं चाहता कि उपन्यासकार उसके तथा पाठकों के बीच में आये। वह पात्रों का जीवन अपनी आँखों देखना चाहता है। वे कम अक्ल पाठक होते हैं जिन्हें उपन्यास के पात्रों या घटनाओं को समझने के लिए उपन्यासकार की सहायता लेनी पडती है। रवीन्द्रनाथ कभी-कभी पुराने तिलिस्मी उपन्यासकारों की तरह, पाठकों के सामने आकर, उन्हें संबोधित करके, घटनाओं का रहस्य समझाते भी दीख पड़ते है। 'यथा आँख की किरकिरी' का निम्नलिखित उदाहरण:—"अनेक पाठक यह समझते होंगे कि कुंज ने सोकर पढ़ाने का मूल्यवान समय व्यर्थ गँवाया था। ऐसे पाठकों की जानकारी के लिए यह कह देना जरूरी है कि कुंज की देख-रेख में पढ़ाई का काम जिस तरह चलता है उसका समर्थन कोई भी स्कूल इंस्पेक्टर नहीं कर सकता।[1]" और यह उदाहरण अपने ढंग का अकेला नहीं है।

कहीं-कहीं उपन्यास की घटनाओं को उदाहरण बनाकर उपदेश या नीतिवाक्य भी प्रस्तुत किये गये है।[2] सर्वज्ञाता के रूप में तो लेखक अनेक स्थलों पर दिखायी पड़ता है, किन्तु कहीं-कहीं यह बहुत आपत्तिजनक मालूम पड़ता है। 'चोखेर बाली' की एक पात्री माया एक दूसरे पात्र बिहारी के पास एक पत्र लिखती है। कुज इसे प्रेम-पत्र समझने की भूल कर बैठता है। इस पर लेखक कहता है—"यदि वह पत्र खोलता तो देखता कि उसमें लिखा है—'बुआ जी किसी तरह साबूदाना खाने पर राजी नहीं होतीं, आज क्या उनको दाल का रस दिया जाय।[3]" उपन्यास मे और भी ऐसे स्थल हैं, जहाँ उपन्यासकार सर्वज्ञाता के रूप में पाठकों के सामने आता है।[4]

रवीन्द्रनाथ के उपन्यासों में संयोगाधृत घटनाओं का भी बाहुल्य दिखायी देता है। 'नौका डूबी' इस दृष्टि से विशेष उल्लेखनीय है। इस उपन्यास पर हार्डी का प्रभाव प्रत्यक्ष है। 'नौका डूबी' में संयोग पात्रों का भाग्य निर्धारित करते दिखायी पड़ते हैं। इस उपन्यास की पहली संयोगाधृत घटना—नाव दुर्घटना —खटकनेवाली नहीं है, क्योंकि इसके द्वारा वे मानवीय चरित्र के उद्‌घाटन और पात्रों की आंतरिक भावनाओं की परतों को उभाड़ने के लिए उपयुक्त वातावरण उपस्थित कर देते हैं। पर बाद में जब कथा को, मनमाना रूप देने के लिए लेखक संयोगों की शरण लेने लगता है, तो उसकी दुर्बलता स्पष्ट हो जाती है। जहाज पर कमला की सहायता के लिए चक्रवर्ती चाचा का उपस्थित हो जाना, कमला का रमेश की चिट्ठी पा जाना, नलिनाक्ष का

---

१. आँख की किरकिरी
२. उपरिवत्, पृ० ४५, ४७
३. उपरिवत्, पृ० ८३
४ उपरिवत् पृ० २२३

अन्नदा बाबू और हेमनलिनी के सपक में आना य सभी सयोगाधत हैं और इनके कारण उपन्यास में चित्रित जीवन की नष्ट हो गयी है इनकी सहायता से लेखक ने उपन्यास के सूत्रों को समेटने का कार्य लिया है, जिससे उसकी शिल्पगत दुर्बलता ही सिद्ध होती है। 'चोखेर बाली' में बेमतलब, केवल कथा में थोड़ा और विस्तार करने के लिए, संयोग का सहारा लिया गया है। इसके सत्रहवे परिच्छेद में बिहारी कुज आदि की गाड़ी का गोरों द्वारा हरण कर लिया जाना एक ऐसी ही घटना है। 'योगायोग' में भी चिन्त्य संयोगाधृत घटनाएँ हैं। 'गोरा' यद्यपि 'सयोगों से मुक्त नहीं है, पर इसमें कथानक इनकी दुर्बल नींव पर नहीं खड़ा है। इस उपन्यास मे जीवन का सच्चा चित्र उपस्थित करने का प्रयास किया गया है, 'नौका डूबी' की परिलक्ष्य नाटकीयता इसमें नहीं है।

रवीन्द्रनाथ के बड़े उपन्यासों में उनका कवित्व उपन्यास में बाधक नहीं बनने पाया है, यह उपन्यासकार की सबसे बड़ी सफलता है। उन्होंने अपने कवि को अपने उपन्यासकार से सर्वथा अलग रखने की सफल चेष्टा की है। फिर भी कहीं-कही रवीन्द्र का कवि उपन्यास की घटनाओ के बीच-बीच में झाँकता दिखायी पड़ता है; गोरा तक में ऐसे स्थल हैं। पर ऐसे अवसर इतने मधुर और अल्प हैं कि पाठक मुस्कुरा कर रह जाता है, असंतुष्ट नहीं होता। भाषा का लालित्य अनुवाद के पर्दे को बेधकर भी, झलकता दिखायी पड़ता है।

रवीन्द्रनाथ ने नाटकीय और चित्रात्मक दोनो प्रकार की शिल्प विधियों का प्रयोग अपने उपन्यासों में किया है। 'नौका डूबी' अपनी अमित नाटकीयता के लिए प्रसिद्ध है। इस उपन्यास मे कहीं भी अति विस्तृत वार्तालाप नही है—जैसा कि साधारण उपन्यासकार अपने उपन्यासो को नाटकीय बनाने के लिए बहुधा करते हैं—पर उपन्यास के पात्र जो जीवन जीते है, उन्हें हम उपन्यास के रंगमंच पर अभिनीत होते देखते हैं। उपन्यासकार का कार्य केवल इतना भर है कि वह पात्रों से हमारा परिचय करा देता है और स्वयं अलग हट जाता है 'नौका डूबी' उपन्यास के पात्र स्वयं अपना जीवन जीते हैं और अन्य पात्रों या परिस्थितियों के संपर्क में आकर अपने लिए नयी समस्यायों का निर्माण करते और फिर उनके बीच से गुजरने का प्रयास करते है। इस उपन्यास में रवीन्द्र सर्वज्ञ विधाता की तरह अपने पात्रों की कहानी नहीं कहते अथवा उनके जीवन की भावी घटनाओं की सूचना या संकेत नहीं देते। रवीन्द्र का किस्स.गो वाला रूप इस उपन्यास में कहीं भी दिखायी नहीं पड़ता। हम इस उपन्यास में उन्हें सर्वथा एक नाटककार के रूप में देखते है—नाटककार, जो अपनी सीमा को व्यापक बनाने के लिए उपन्यासकार बन गया है। इसीलिए रवीन्द्रनाथ इस उपन्यास में प्रकृति या परिस्थिति-वर्णन में भी अधिक समय लेते नहीं दीख पड़ते—ठीक एक कुशल नाटककार की तरह, जो रंगमंच-निर्देश में अधिक स्थान न लेकर बहुत कुछ अभिनेताओं के अभिनय-कौशल के लिए छोड़ देता है।

'नौका डूबी' की इस परिलक्ष्य नाटकीयता के विपरीत, 'गोरा' में जीवन को यथार्थ रूप मे प्रस्तुत किया गया है। इस उपन्यास में नाटकीय और चित्रात्मक दोनों शिल्पविधियो का संतुलित उपयोग किया गया है। जिन शिल्पगत दोषों का उल्लेख हमने रवीन्द्र के अन्य उपन्यासों के संबंध मे किया है, उनसे यह उपन्यास सर्वथा मुक्त है। 'गोरा' में एक ही दोष कहीं कहीं दिखायी पड़ता है। धर्म, जीवन-तत्व तथा हिन्दू समाज की बुराइया और कुप्रथाओं की के रूप मे आये वार्तालाप

कहीं-कहीं अत्यधिक दीर्घ हो गये है गोरा कहीं कहीं एक सिद्धांत विशेष के ध्वनि विस्तारक यंत्र के रूप मे दिखायी पडता है रवीन्द्रनाथ के केवल इसी उपन्यास मे इतना स्पष्ट टनागवत्र सामाजिक कुप्रथाओ और जाति-पाँति के मिथ्या बंधनों की इतनी खुलकर आलोचना की गयी है। पर इस प्रकार के आपत्तिजनक स्थल संख्या में अधिक नहीं हैं। अधिकांश विचार प्रधान वार्तालापों मे उपन्यास की धारा में कोई आपत्तिजनक व्याघात नहीं उत्पन्न होता। गोरा के विचार इस प्रकार उसके व्यक्तित्व का अंग बनकर उपस्थित होते हैं कि उनसे पाठक खिन्नता का अनुभव नहीं करता।

गोरा, निर्विवादतः, रवीन्द्रनाथ का सर्वश्रेष्ठ उपन्यास है। इसके आधार पर हम कह सकते है कि उपन्यासकार के जीवन पर अधिकार, चरित्रों की पकड और मानवीय स्नेहों तथा शिष्टाचारों की उसकी जानकारी में व्यापकता, शक्ति और गहराई है। इस उपन्यास में एक जीवन की सृष्टि करने में रवीन्द्रनाथ सर्वथा सफल रहे हैं। यों संसार के श्रेष्ठ उपन्यासों की तुलना में इसकी दुर्बलताएँ स्पष्ट हैं, पर भारतीय उपन्यास साहित्य में इसका विशिष्ट स्थान है।

आर्यसमाज की हिन्दी सेवाएँ

डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित

प्राय: प्रत्येक देश के इतिहास में धर्म का महत्वपूर्ण अस्तित्व रहा है। धर्म ने न केवल मानव जीवन को सुसभ्य, सुसंस्कृत, सुचारु तथा सुष्ठु बनाया वरन् इसने मानव-जीवन को औचित्य की धारा के मध्य में प्रवाहित करने में यथाशक्ति सहायता प्रदान की। धर्म ने व्यक्ति व्यष्टि, समाज, देश एव काल की गति को संयमित करने की चेष्टा की। धर्म का योगदान और मानवता के प्रति सेवाएँ अगणित हैं। धर्म ने हमारी संस्कृति, राजनीति एवं साहित्य को भी भाँति-भाँति से संयमशील बनाकर उसे सुचारुता प्रदान की। भारतवर्ष एक धर्म-प्रधान देश रहा है। यहां जीवन की समस्त गति-विधियो पर धर्म का अपेक्षित एव आदरपूर्ण अंकुश रहा है। देश के धार्मिक नेता ही राजनीति के संचालक थे। बडे उत्कृष्ट धर्मसाधक ही उच्च कोटि के साहित्य सृष्टा और द्रष्टा थे। वेद, उपनिषद्, ब्राह्मण ग्रथ इस कोटि के जाज्वल्यमान उदाहरण हैं। पतंजलि कृत योगसूत्र, नारद विरचित भक्ति सूत्र इसी कोटि के महत्त्वपूर्ण ग्रंथ हैं। इस दृष्टि से भारतवर्ष का अतीत बड़ा गौरवशाली रहा है। अतीत में संस्थापित धर्मों ने उच्च कोटि के प्रचुर साहित्य को जन्म और ऐसा मार्ग प्रशस्त किया कि कोई भी प्राणी उसके रस में अवगाहन करते समय आनंद का अनुभव करेगा। मध्ययुग मे कबीर, दादू, नानक, रैदास, मलूकदास, सुंदरदास, चरनदास, तथा पलटू साहब आदि ने निर्गुण ब्रह्म की उपासना करते हुए लालित्य अर्थसम्पन्न, शान्त रस से पोषित साहित्य की रचना की। इससे पूर्व सिद्ध, नाथ, जैन धर्म के कवि साहित्य-सृजन का मार्ग परिष्कृत कर चुके थे। इनके अनन्तर तुलसी, सूर तथा अष्टछाप के अन्य 'सात कवि, मीरा, आदि ने धार्मिक अनुभूति के साथ साहित्य-सृजन की जो साधना की वह भारतीय जनता के साधनात्मक एवं व्यावहारिक जीवन लिए महत्त्वपूर्ण आधार है। आधुनिक काल में आर्यसमाज का हिन्दी भाषा एवं साहित्य के क्षेत्र मे महत्वपूर्ण योग है। आर्यसमाज इस देश का एक जीवित सम्प्रदाय है। भारतवर्ष के राजनीतिक आदोलन, राष्ट्रीयता के विकास, समाज के परिष्कार तथा हिन्दी भाषा एवं साहित्य के निर्माण मे इस धार्मिक संगठन में आशातीत सहायता प्रदान की और जन-जागरण प्रस्तुत करके वाह्याचारो की कटुतम आलोचना की। स्वतंत्रता प्राप्ति के अनन्तर आज हिन्दी को राष्ट्रभाषा का गौरवपूर्ण आसन प्रदान किया गया परन्तु यह स्वप्न आर्यसमाज के संस्थापक स्वामी दयानन्द ने उन्नीसवीं शताब्दी के चतुर्थ चरण में देखा था। इस आर्यभाषा के माध्यम से संस्कृत के ग्रंथ में सन्निहित वेदों के ज्ञान को जन-साधारण के लिए सुलभ किया। हिन्दी भाषा और साहित्य को स्वामी जी राष्ट्रभाषा उद्‌घोषित होने के लिए उस समय उपयुक्त समझते थे। हिन्दी के प्रति उनकी निष्ठा का एक उदाहरण यह है कि उन्होंने आर्यसमाजियों के लिए हिन्दी का अध्ययन एवं ज्ञान आवश्यक तथा अनिवार्य कर दिया था स्वामी जी की प्रेरणा से आर्यसमाज ने विदेशों में हिन्दी का प्रचार

किया। हिंदी के प्रति उनका अनुराग देखकर अनुमान होता है कि वे हिन्दीभाषी प्रदेश के निवासी थे, परन्तु आश्चर्य का विषय वे गुजराती थे। सच यह है कि हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रचार तथा प्रसार के सम्बन्ध में स्वामी जी ने जो प्रयत्न किए उनके पीछे अनेक राजनीतिक, सामाजिक आर्थिक, सांस्कृतिक तथा साहित्यिक कारण सन्निहित थे और जिनका यहां पर संक्षिप्त विवेचन कर लेना आवश्यक होगा।

उन्नीसवीं शताब्दी का उत्तरार्ध भाग भारतवर्ष के इतिहास का बड़ा महत्वपूर्ण युग है। भारतीय स्वातंत्र्य की प्रथम क्रान्ति-लपटें जो इस समय भड़क उठी थीं उनसे कौन अपरिचित है। व्यापारी बन कर आने वाले अंग्रेज क्रमशः इस देश के स्वामी बन बैठे और भारतीय संस्कृति, सभ्यता के संहारक तथा वैभव के शोषक बन गए। अतः वर्षों की साधना एवं अनवरत प्रयत्नों के अनन्तर बहुत सुन्दर संगठन न होने के बावजूद भी सन् १८५७ में विद्रोह उठ खड़ा हुआ। इसकी सफलता में (कुछ अपवादों को छोड़कर) सभी भारतीय थे। स्वामी दयानन्द ने भी इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किए। लाइफ आफ़ स्वामी दयानन्द के लेखक हर बिलास शारदा का कथन है कि भारतीयों के असंगठन तथा निर्बलताओं से परिचित होने के कारण स्वामी जी ने भारतीय जनता को अकस्मात् संघर्ष करने का आदेश नहीं दिया। वे जानते थे कि कोई भी जाति सामाजिक एवं आध्यात्मिक दोषों में संलिप्त रह कर स्वातंत्र्य नहीं प्राप्त कर सकती है अतः सर्वप्रथम उनकी दासता की शृंखलाओं से कुरीतियों एवं कुप्रथाओं के बंधन को विच्छिन्न करना है। जन-जागृति उत्पन्न करने के लिए उन्होंने हिंदी की ओर उन्मुख होने के लिए उपदेश दिया और राष्ट्रभाषा को आर्यभाषा की संज्ञा दी। उसे राष्ट्रभाषा का गौरव प्रदान करने की चेष्टा की। राजनीतिक क्षेत्र में जागरण समुपस्थित करने के लिए उन्होंने सामाजिक दोषों के निवारण के लिए चेष्टा की।

शताब्दियों की दासता के फलतः १९वीं शताब्दी तक भारत की सामाजिक अवस्था भी जीर्ण एवं शिथिल हो गई थी। बाल-विवाह, वृद्ध-विवाह जाति-पांति की संकीर्णता, बालिकाओं की हत्या आदि अनेक दोष समाज में परिव्याप्त थे। अनमेल विवाह के फलस्वरूप विधवाओं की संख्या बढ़ती जा रही थी। पुनर्विवाह पातक समझा जाता था। स्त्रियां अधिक संख्या में इस्लाम धर्म स्वीकार करती जा रही थी। राजपूतों, जाटों एवं मेवातों में उत्पन्न होते ही कन्या की हत्या कर डाली जाती थी। समाज अंधविश्वासों (जिसमें नर-बलि की प्रथा भी सम्मिलित थी) में ग्रस्त था। अस्पृश्य जाति की दुर्दशा उन्हें ईसाई तथा इस्लाम धर्मों में उन्मुक्त द्वारों की ओर उन्मुख कर दीक्षा के लिए आवाहन कर रही थी। नारियों की अवस्था इस समय शोचनीय थी। अल्पायु कन्याओं का विवाह वृद्धों के साथ सम्पन्न होता था। सती प्रथा प्रचलित थी। उन्हें शिक्षा के आलोक से दीप्त करने का कोई प्रबन्ध नहीं था। हिन्दू धर्म में अनेक प्रकार की कुरीतियां एवं बाह्याचार समाहित हो गए थे। ब्रह्म समाज की स्थापना हो चुकी थी। इसी प्रकार प्रार्थना समाज। (१८६७ में), रामकृष्ण मिशन तथा थियोसॉफिकल सोसायटी (१८७५ ई०) का भी प्रसार जनता के हृदय पर हो चला था। ब्रह्म समाज के सिद्धांत तथा विचारधारा का आधार उपनिषद् साहित्य था परन्तु स्वामी दयानन्द ने वेदों को अपने सिद्धांतों का आधार माना और वेदों की ओर लौटो का नारा बुलन्द किया स्वामी जी वेदों के विद्वान थे

अब १९ वीं शताब्दी की साहित्यिक परिस्थितियों पर ध्यान दीजिए। इस समय उर्दू-फारसी अदालत की भाषा थी। हिन्दी के क्षेत्र में ब्रजभाषा का प्रभुत्व और खड़ी बोली का विकास हो रहा था। मुंशी सदासुखलाल, रामप्रसाद निरंजनी, लल्लूलाल, इंशा अल्ला खाँ, के प्रयत्नो से खडी बोली का रूप परिमार्जित हो रहा था। ईसाई मिशन भी खड़ी बोली के माध्यम से धर्म प्रचार कार्य में तीव्र गति से अनुरक्त थे। सन् १८३७ में मुसलमानों के प्रयत्नों के फलस्वरूप उर्दू दफ्तरों की भाषा हो गई। हिन्दी का विरोध करते हुए, प्रसिद्ध विद्वान तासी ने लिखा: हिन्दी मे हिन्दू धर्म का आभास, वह हिन्दू धर्म जिसके मूल में बुतपरस्ती और उसके आनुषंगिक विधान है। इसके विपरीत उर्दू में इस्लामी संस्कृति और आचार-व्यवहार का संचय है। इस्लाम भी सामी मत है और एकेश्वरवाद उसका मूल सिद्धांत है, इसलिए इस्लामी तहजीब में ईसाई या मसीही तहजीब की विशेषताएँ पाई जाती है। (हिन्दी साहित्य का इतिहास, पृ० ४३५, लेखक आचार्य शुक्ल) आगे चलकर राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द ने देवनागरी लिपि के ऊपर आने वाले संकटों का निवारण किया। हिन्दी के हेतु राजा शिवप्रसाद ने जो प्रयत्न किए वे बहुत नगण्य हैं। उनकी प्रतिष्ठा तथा स्थिति से उत्पन्न अन्य कोई भी सुदृढ भाव वाला व्यक्ति हिन्दी की सेवा इससे अधिक कर सकता था। राजा साहब का व्यक्तित्व, हेनरी पिनकाट के निम्नलिखित शब्दो मे प्रतिबिम्बित होता है.....राजा शिवप्रसाद बड़ा चतुर है बीस बरस हुए उसने सोचा कि अंग्रेजी साहबों को कैसी-कैसी बातें अच्छी लगती हैं उन बातों का प्रचलित करना चतुर लोगों का परम धर्म है। इसलिए बड़े चाल से उसने काव्य को और अपनी हिन्दी भाषा को भी बिना लाज छोडकर उर्दू के प्रचलित करने में बहुत उपयोग किया.....राजा शिवप्रसाद को अपना हित सबसे भारती बात है। राजा साहब के समकालीन राजा लक्ष्मणसिंह संस्कृत प्रधान हिन्दी के समर्थक थे। स्वामी दयानन्द भी इन लोगों के समकालीन थे। स्वामी जी ने हिन्दी के उत्थान, विकास तथा प्रचार के लिए अनवरत परिश्रम किया परन्तु हिन्दी के इतिहासकारों की कृपादृष्टि से ये कृतार्थ नही हो पाये। हिन्दी के प्रति उनका योगदान चार प्रकार से हुआ। सर्वप्रथम उन्होंने हिन्दीभाषियो के हेतु वेद सुलभ बनाया। द्वितीय, धार्मिक खंडनात्मक साहित्य को जनता के लिए सुलभ किया। तृतीय अपने व्याख्यानों का माध्यम हिन्दी को रखा। चतुर्थ अपने सिद्धांतों के प्रचार के लिए हिन्दी को अपनाया। आर्यसमाज के नियमों तथा उपनियमों में हिन्दी के ज्ञान पर बल दिया गया। उपनियम ३५ में कहा गया है सब आर्य और आर्य सभासदो को संस्कृत को आर्य-भाषा जाननी चाहिए। स्वामी जी का स्पष्ट मत था कि हिन्दी को राष्ट्रीय भाषा का रूप प्राप्त होना चाहिए। इसमें कोई सन्देह नहीं है कि हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में देखने की चेष्टा सर्वप्रथम आर्य-समाज ने की। उर्दू के ज्ञाताओं को आर्यसमाज में दीक्षित करने से हिन्दी का सम्यक् ज्ञान करा दिया जाता था। स्वामी जी ने हिन्दी को आर्य-भाषा की संज्ञा दी। आर्यसमाज के सिद्धांतों का हिन्दी मे प्रचार करने के कारण स्वामीजी को अनेकानेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ा। परन्तु जहा दृढ़ता, निश्चय तथा स्पष्ट धारणा से कोई कार्य किया जाता है वहां कर्त्तव्य मार्ग की समस्त दुरूहताएँ दूर हो जाती है। स्वामी जी की दृढ़ धारणा थी कि राष्ट्रोत्थान के लिए हिन्दी का प्रचार होना ——— है। हिन्दी की उदार तथा व्यापक भूमि में संकीर्णता का अभाव था। स्वामी जी के प्रयत्नो को आघात पहुँचाने वालों में सयद अहमद खां तासी तथा अन्य मुसलमान थे जो

हिन्दी को गवारूँ भाषा कहकर उर्दू के गौरव का प्रचार करने में व्यस्त थे। स्वामी जी स्वतः गुजराती थे। वे गुजराती तथा संस्कृत के विद्वान थे। हिन्दी में उन्हें बोलने का अभ्यास न था। फिर भी स्वामी जी ने मई १८७४ ई० से हिन्दी में भाषण देना प्रारम्भ किया। स्वामी जी के हिन्दी भाषा में दिए गए भाषणों से जनता पर प्रभाव पड़ने लगा और जनता उनके भाषणों की ओर आकर्षित होने लगी। स्वामी जी के इस प्रथम भाषण के साथ आर्य-भाषा का समुचित प्रचार प्रारम्भ हुआ। मई १८७४ के अनन्तर स्वामी जी ने सर्वदा हिन्दी में भाषण दिया। हिन्दी के प्रति उनके प्रेम का परिचय उस समय और भी व्यापक रूप से प्राप्त हुआ जब वे बम्बई तथा पूना आदि प्रदेशों में आर्यभाषा के माध्यम से बोले। लगभग इसी समय से उन्होंने हिन्दी में लेखन-कार्य भी प्रारम्भ किया। स्वामी जी में वक्तृता शक्ति असाधारण थी। हिन्दी का समुचित अभ्यास हो जाने के अनन्तर गंभीर स्वर, आकर्षक उच्चारण में उनका भाषण श्रोताओं को मंत्रमुग्ध कर देने वाला होता था। उनके भाषण में हिन्दी के तत्सम शब्दों और शब्दों के पर्याय रूपों का सम्यक् प्रयोग रहता था। उदाहरणार्थ, एक पंक्ति देखें 'लोग कहते हैं कि सत्य को प्रकट न करो। कलेक्टर क्रोधित होगा, कमिश्नर अप्रसन्न होगा, गवर्नर पीडा देगा! अरे। चक्रवर्ती राजा क्यों न अप्रसन्न हो हम तो सत्य ही कहेंगे।' क्रमशः उनकी शैली प्रौढ़ होती गई। उनकी भाषा सरस, सरल, सम्बलित तथा भावों को सजीव रूप में व्यक्त करने मे पूर्णतया समर्थ बन गया। उनके व्याख्यानों में आयोजित दृष्टांत तथा आख्यायिकाएँ साहित्यिक एवं मनोरंजक होती थीं।

शास्त्रार्थ करते समय भी स्वामी जी हिन्दी का ही प्रयोग करते थे। उद्धरण के लिए प्रस्तुत श्लोकों का भी वे अनुवाद हिन्दी में कर देते थे। शास्त्रार्थ के अतिरिक्त पत्र-व्यवहार तथा विज्ञापनों का प्रकाशन भी बढ़ता गया। फलतः स्वदृष्टिकोण के स्पष्टीकरण के लिए उन्हें विदेशियों को भी पत्र लिखना पड़ता था। यह कार्य स्वामी जी हिन्दी में ही करते थे। उनके पत्रों की भाषा ग्रंथों की भाषा से भिन्न होती थी। पत्रों में तत्सम शब्दों को अधिक प्रश्रय नहीं मिलता था। ग्रंथों में विषय की गंभीरता के अनुकूल भाषा होती थी। हिन्दी गद्य की अविकसित अवस्था के उस युग में भी स्वामी जी का गद्य सुष्ठु और मर्यादित रहता था। एक पत्र का कुछ अंश देखिये : "आपका पत्र मेरे पास आया देखकर अभिप्राय जान लिया। इसके देखने से मुझको निश्चित हुआ कि आपने वेदों से ले के पूर्व मीमांसा पर्यन्त विद्या पुस्तकों के मध्य में से किसी भी पुस्तक के शब्दार्थ सम्बन्धों को नहीं जाना है।. . . . भला विचार तो कीजिए कि आप उन पुस्तकों के पढ़े बिना वेद और ब्राह्मण पुस्तकों का कैसा आपस में सम्बन्ध, क्या-क्या उनमें है और स्वतः प्रमाण ईश्वरोक्त वेद और परतः प्रमाण और ऋषि-मुनि कृत ब्राह्मण पुस्तक है इन हेतुओं से क्या-क्या सिद्धांत सिद्ध होते हैं और ऐसे हुए बिना क्या हानि होती है इन विद्या रहस्य की बातों को जाने बिना आप कभी नहीं समझ सकते।"

स्वामी जी के विज्ञापन सामान्यतया हिन्दी में होते थे। विद्वानों का कथन सत्य ही है कि स्वामी जी द्वारा हिन्दी में भाषण देना तथा विज्ञापन मुद्रित कराना भी हिन्दी की ठोस सेवा थी। इसी प्रकार देशी राजाओं को हिन्दी में दिए गए भाषणों के द्वारा भी हिन्दी का सम्यक् प्रचार हुआ। स्वामी जी ने राजपूताने के हतप्रभ, कांतिविहीन राजाओं में जागृति समुत्पन्न करने के लिए हिन्दी में भाषण दिए अंग्रेजो की कूटनीति से प्रपीड़ित पंगु राजा मे चेतना का समावेश करने के लिए

स्वामी जी ने राजस्थान का दौरा किया। दौरे के दौरान में राष्ट्रभाषा या आर्य भाषा के माध्यम से उन्होंने भाषण दिया। मेवाड़ की राजकीय भाषा हिन्दी थी। परन्तु उसमें फारसी के शब्दो का प्रयोग होता था। स्वामी जी के परामर्श से राणा ने शुद्ध एवं सरल हि दी तथा देवनागरी लिपि को राजकीय कार्यालियों में लागू किया। उदयपुर, शाहपुरा, जोधपुर आदि बड़े-बडे राज्यो मे स्वामी जी ने भ्रमण करके हिन्दी तथा आर्यसमाज के प्रसार के लिए प्रयत्न किया। उदयपुर के राणा सज्जनसिंह ने स्वामी जी के निधन के अनन्तर हिन्दी में काव्य-रचना कर के पुष्पांजलि भी अर्पित की।

केवल भाषणों तक ही स्वामी जी का हिन्दी-प्रेम सीमित न रहा वरन् उन्होंने हिन्दी में ग्रथो की रचना भी की। सत्यार्थ प्रकाश हिन्दी में विरचित उनका युग निर्माता ग्रंथ है। सत्यार्थ प्रकाश की भाषा बड़ी मर्यादित तथा साहित्यिक थी। उदाहरणार्थ, "मेरा कोई नवीन वा मतमतातर चलाने का लेशमात्र भी अभिप्राय नहीं है किन्तु जो सत्य है उसको मानना-मनवाना और जो असत्य है उसको छोड़ना और छुड़वाना मुझको अभीष्ट है. . . ." (सत्यार्थ प्रकाश पृ० ३९० स्वमंतव्या-मतव्य प्रकाश) सत्यार्थ प्रकाश का कालांतर में १४ भाषाओं (जिसमें अंग्रेजी, फ्रेंच तथा जर्मन भी) में अनुवाद हुआ। इसका (पं० गदाधरप्रसाद, वैद्य द्वारा) हिन्दी पद्यानुवाद हुआ। इसके अतिरिक्त पचमहायज्ञ, वेदान्तिध्वान्त निवारण, वेदविरुद्ध मतखंडन, शिक्षापत्रीध्वांत निवारण, आर्याभिविनय, संस्कारण विधि, आर्योद्दृश्यरत्नमाला, भ्रांतिनिवारण, आत्मचरित्र, संस्कृत वाक्य प्रबोध, व्यवहार भानु, भ्रमोच्छेदन, गोकरुणानिधि, शास्त्रार्थ आदि। स्वामी दयानन्द ने हिन्दी मे वेदभाष्य प्रस्तुत किया। यह उनकी हिन्दी भाषा के लिए महत्त्वपूर्ण देन थी। इसके द्वारा वेदो का प्रचार तो हुआ ही साथ ही हिन्दी का भी पूर्णतया प्रचार हुआ। इसकी प्रशंसा लाला लाजपतराय ने उन्मुक्त कंठ से की। वेद भाष्य आर्यसमाज के माध्यम से स्वामी जी की एक स्थायी देन थी। वेद भाष्य हिन्दी के लिए युगांतर समुपस्थित करने वाली घटना है।

हिन्दी गद्य के स्वरूप को बनाने-संवारने में स्वामी दयानन्द ने महत्त्वपूर्ण कार्य किया। वे भारतेन्दु के समकालीन थे। ये दोनों व्यक्ति जिस समय हिन्दी गद्य के क्षेत्र में पदार्पण कर रहे थे उस समय हिन्दी गद्य में ब्रजभाषा एवं पंडिताऊपन था और संस्कृत के तत्सम तथा अरबी-फारसी के शब्दों से लदी थी। स्वामी जी तथा भारतेन्दु जी ने इसका परिष्कार किया और उसे ब्रजभाषा के प्रभाव से उन्मुक्त कराने की चेष्टा की। भारतेन्दु और स्वामी जी की हिन्दी सेवा में अन्तर भी है। भारतेन्दु ने हिन्दी की चतुर्मुखी सेवा की परन्तु स्वामी जी ने केवल उपदेशों के प्रचार के लिए हिन्दी गद्य का सहारा लिया। इसी दृष्टि से व्याख्यान, लेखन, तथा अन्य उपायों से अपने मतो को स्वामी जी ने प्रकाशित किया। स्वामी जी नाटक तथा शृंगारिक कविता के घोर विरोधी थे। इसका कारण स्पष्ट है। स्वामी जी ने जो कुछ हिन्दी के लिए कार्य किया वह इस हेतु और भी महत्त्वपूर्ण है कि अहिन्दी प्रांत के व्यक्ति होकर उन्होंने अनेक प्रकार से हिन्दी का प्रचार किया। नाटकों के स्वामी जी विरोधी थे। उन्होंने लिखा था : 'विदित हो कि तुम आर्यसमाज के पत्र मे नाटक का विषय मत छापो। यह अनुचित बात है। यह आर्यसमाज है। भडुआ समाज नहीं।"

धर्म प्रचार होने के कारण स्वामी जी को हिन्दी की ओर और भी अधिक झुकना पड़ा। में उन्होने हिन्दी के कठोर शब्दों का व्यवहार किया उन्होंने ईश्वर जीव-जगत आदि

विषयों पर गंभीर गद्य में विचारों की अभिव्यक्ति की। उन्हें भाषा को प्रभावोत्पादक बनाने के लिए व्यंग्य का भी प्रयोग करना पड़ता था। अवैदिक मतों के खंडन के हेतु आक्रमणात्मक भाषा का भी उपयोग किया। अब यहां पर उनकी शैली बड़ी गंभीर तथा तर्क प्रधान होती थी। उदाहरणार्थ :—

"निराकार, क्योंकि जो साकार होता तो व्यापक न होता, जब व्यापक न होता तो सर्वज्ञादि गुण भी ईश्वर देन घट सकते क्योंकि परिमित वस्तु के गुण, कर्म, स्वभाव भी परिमित रहते हैं तथा शीतोष्ण, क्षुधा, तृषा और रोग, दोष, छेदन, भेदन आदि से रहित नहीं हो सकता। इससे यही निश्चित है कि ईश्वर निराकार है। जो साकार हो तो उसके नाक, कान, आंख आदि अवयवों का बनाने हारा दूसरा होना चाहिए। क्योंकि जो संयोग से उत्पन्न होता है उसको संयुक्त करने वाला निराकार चेतन अवश्य होना चाहिए।" (सत्यार्थ प्रकाश, पृष्ठ० ११४)

करुणापूर्ण तर्क शैली लिखने में स्वामी जी कुशल थे। एक उदाहरण देखिये। यह प्रसग सोमनाथ की मूर्ति ध्वंस से सम्बन्धित है।

"जब मूर्ति तोड़ी तब सुनते हैं कि अठारह क्रोड़ के रत्न निकले जब पुजारी और पोपों पर कोड़ा पड़े तब रोने लगे। कहाँ, विकोप बतलाओ। मार के मारे झट बतला दिया। तब सब कोष लूट मार-कूट कर पोप और उनके चेलों को गुलाम बिगारी बना, पिसना पिसवाया, घास खुदवाया, मल-मूत्रादि उठवाया और चना खाने को दिया। हाय! क्यों पत्थर की पूजा कर सत्य निष्ठा को प्राप्त हुए? . . . जितनी मूर्तियां हैं, उतनी शूरवीरों की पूजा करते तो भी कितनी रक्षा होती। पुजारियों ने इन पाषाणों की इतनी भक्ति की परन्तु मूर्ति एक भी उन (शत्रुओं) के शिर पर उड़ के न लगी।"

इतिवृत्तात्मक शैली की दृष्टि से भी स्वामी जी का गद्य पठनीय है। उसमें रोचकता तथा प्रभावित करने की भी शक्ति है। एक उदाहरण देखिए :—

"देखो आर्यावर्त के राजपुरुषों की स्त्रियाँ धनुर्वेद अर्थात् युद्ध-विद्या भी अच्छी प्रकार जानती थीं क्योंकि जो न जानती होतीं तो कैकेयी आदि दशरथ आदि के साथ युद्ध में क्योंकर जा सकतीं? और युद्ध कर सकतीं। इसलिए ब्राह्मणी और क्षत्रियाँ को सब विद्या, वैश्या को व्यवहार विद्या और शूद्रा को पाकादि विद्या अवश्य पढ़नी चाहिए। जैसे पुरुषों को व्याकरण धर्म और अपने व्यवहार की विद्या न्यून से न्यून अवश्य पढ़नी चाहिए वैसे स्त्रियों को भी व्याकरण, धर्म, वैद्यक, गणित, शिल्प विद्या तो अवश्य ही सीखनी चाहिए।" इन वाक्यों में कुछ विषयों को बहुत बल देकर कहा गया है ताकि उनका प्रभाव पाठक या श्रोता पर पड़े। सत्यार्थ प्रकाश की भाषा में कहीं-कहीं पांडिताऊ शैली की छाप है।

हास्य एवं व्यंग्य के विधान में भी स्वामी दयानन्द कुशल थे। इसका उदाहरण यहाँ पर प्रस्तुत किया जाता है :—

"ये सब बातें पोप लीला के गपोड़े हैं। जो अन्यत्र के जीव वहां जाते हैं उनका धर्मराज चित्रगुप्त आदि न्याय करते हैं। तो वे यमलोक के जीव पाप करें तो दूसरा यमलोक मानना चाहिए कि वहाँ के न्यायाधीश उनका न्याय करें और पर्वत के समान यमगणों के शरीर हों तो दीखते क्यों नहीं? और मरने वाले जीव को लेने में छोटे द्वार में उनकी एक अंगुली भी नहीं आती और

सडक गली में क्यों नहीं रुक जाते ? जो कहो कि वे सूक्ष्म देह भी धारण कर लेते है तो प्रथम पर्वतवत् शरीर के बड़े-बड़े हाड़ पोप जी बिना अपने घर के कहां धरेंगे ?" (सत्यार्थ प्रकाश पृ० २२१)। स्वामी जी की हास्य शैली के मध्य व्यंग्यों की कठोरता मर्म को आहृत करने वाली होती थी। सामाजिक एवं धार्मिक दोषों की आलोचना करते समय उनके व्यंग्य बड़े तीव्र हो जाते थे। उदाहरणार्थ, श्राद्ध, तर्पण, पिंडप्रदान उन मरे हुए जीवों को तो नहीं पहुंचता है जो वैतरणी के लिए गोदान लेते हैं। वह तो पोप जी के घर मे अथवा वरुई आदि के घर में पहुंचता है। वैतरणी पर गाय नहीं जाती पुनः किसकी पूंछ पकड़ कर तरेगा ? और हाथ तो यहीं जल गया वा गाड़ दिए गए फिर पूंछ को कैसे पकड़ेगा।" [सत्यार्थ प्रकाश पृ० २२१ (बाइबिल खंडन) वही पृ० ३०६] तथा कुरान खंडन (वही पृ० ३६७) में कहीं कटुता के दर्शन भी होते हैं।

व्यंग्य शैली से अधिक विरचित कटुता है दर्शन उनकी आक्रमणात्मक शैली में होते हे। भागवतकार की आलोचना करते हुए स्वामी जी ने लिखा है "वाह् रे वाह् भागवत के बनाने वाले लाल बुझक्कड़। क्या कहना तुमको, ऐसी-ऐसी मिथ्या बातें लिखने में तनिक भी लज्जा और शरम न आई, निपट अंधा ही बन गया। भला स्त्री-पुरुष के रज-वीर्य के संयोग से मनुष्य तो बनते ही है परन्तु परमेश्वर की सृष्टि क्रम के विरुद्ध पशु, पक्षी, सर्प आदि कभी भी उत्पन्न नहीं हो सकते। और हाथी, ऊंट, सिंह, कुत्ता, गधा और वृक्षादि का स्त्री के गर्भाशय मे स्थित होने का अवकाश भी कहां हो सकता है ? और सिंह आदि उत्पन्न होकर अपने मां-बाप को क्यों न खा गए ? धिक्कार है पोप और पोप रचित इस महा असंभव लीला को जिसमें संसार को अभी तक भ्रमा रक्खा है।" (सत्यार्थ प्रकाश पृ० २१५)

इन समस्त खंडनात्मक व्यंग्य से मिश्रित अंशों में स्वामी जी की विवेचनात्मक बुद्धि तथा मर्यादित भावना का परिज्ञान होता है।

स्वामी दयानन्द ने आर्यसमाज की स्थापना बम्बई में १० अप्रैल सन् १८७५ को किया था। सन् १८७७ में लाहौर में आर्यसमाज की स्थापना की। क्रमशः आर्यसमाज की स्थापना प्राय सभी बड़े-बड़े शहरों में हुई। इन समाजों को एकता के सूत्र में निबद्ध करने के लिए प्रांतीय संगठन प्रारम्भ किया। सर्वप्रथम आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब तदनन्तर आर्य प्रतिनिधि सभा संयुक्त प्रात की स्थापना (सन् १८८६ में) हुई। राजस्थान एवं मालवा (सन् १८८८) बिहार तथा बगाल (१८९९ ई० में) मध्य प्रदेश तथा विदर्भ (सन् १८९९ ई०) बम्बई (सन् १९०२ मे) सिध (सन् १९१९) आसाम (सन् १९३० ई० में) हैदराबाद (सन् १९३१ में) हुई। इस देश की इन उपर्युक्त सभाओ के अतिरिक्त आर्य प्रतिनिधि सभाओं की स्थापना विदेशों में भी हुई। उदाहरणार्थ, मौरिशस, पूर्वी अफ्रीका, नैटाल, फीजी, डच गायना तथा बरमा में भी आर्यसमाजो की स्थापना हुई। उपर्युक्त इन समस्त समाजों के संरक्षण में सैकड़ों शिक्षा संस्थाएं आज भी ज्ञानलोक का प्रसार कर रही हैं। इन सब का ध्येय हिन्दी तथा आर्यसमाज का प्रचार करना है। अब हम कतिपय उन संस्थाओं का उल्लेख करेंगे जिन्होंने हिन्दी की सराहनीय सेवाएँ कीं। सर्वप्रथम हम "सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा" को लेंगे। इसकी स्थापना सन् १९०९ में दिल्ली में हुई। इसमें पंजाब, उत्तर प्रदेश, राजस्थान, बिहार, बंगाल, मध्य प्रदेश, विदर्भ, बम्बई की प्रतिनिधि सभाएं इसमें सम्मिलित हैं इसके समस्त काय हिन्दी क से ही संचालित होता है

इसकी स्थापना ६ उद्देश्यों को दृष्टि में रख कर की गई थी। परन्तु चार उद्देश्यों का सम्बन्ध हिन् को व्यापकता प्रदान करना है। इस सभा ने विदेशों में भी हिन्दी का प्रचार किया। इसने स्वामी जी के ग्रंथों को लाखों की संख्या में (हिन्दी में) मुद्रित करवा के जनता में प्रसारित किया इससे सभी पत्र, पत्रिकाएँ, विज्ञापन, विज्ञप्तियाँ हिन्दी में मुद्रित होती थीं और आज भी यह परम्परा सुरक्षित है।

सार्वदेशिक प्रतिनिधि सभा के प्रकाशन विभाग की स्थापना १७ जून १९२४ को सम्पन्न हुई। इसके माध्यम से निम्नलिखित ग्रंथ प्रकाशित हुए :—

(१) दयानन्द जन्म शताब्दी मथुरा वृत्तान्त (२) वैदिक संध्या रहस्य (३) विदेशों में आर्यसमाज (४) मम पितृपरिचय (५) आर्य सिद्धांत विमर्श (६) दयानन्द सिद्धांत भास्कर (७) वेदों में असित शब्द।

इन ग्रंथो के अतिरिक्त इस सभा ने सार्वदेशिक नाम का एक पत्र भी प्रकाशित किया। यह पत्र सन् १९२७ ई० में प्रकाशित हुआ। दयानन्द जन्म शताब्दी के अवसर पर अनेक बार हिन्दी सम्मेलन तथा कवि सम्मेलन भी हुए। उससे हिन्दी काव्य के प्रचार तथा भाषा परिमार्जन में प्रचुर सहायता सम्प्राप्त हुई। सत्यार्थ प्रकाश की जब्ती पर आर्यसमाज ने आंदोलन किया था। इस आंदोलन के द्वारा सत्यार्थ प्रकाश की ओर भी जन-साधारण का ध्यान आकर्षित हो गया। इस प्रकार हिन्दी की ओर जनता का ध्यान आकर्षित करने में सत्यार्थ प्रकाश ने प्रचुर सहायता प्रदान की।

अब आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब की हिन्दी सेवाओं पर ध्यान दीजिए। इस सभा की स्थापना १८८५ ई० में सम्पन्न हुई। इसके अन्तर्गत सात सौ समाज की स्थिति मानी गई है। इसके अन्तर्गत स्थित आर्य विद्या सभा, पंजाब वैदिक पुस्तकालय, चमूपति साहित्य विभाग द्वारा हिन्दी की सराहनीय सेवाएँ की हैं। इन संस्थाओं में हिन्दी पुस्तकों, पत्रों, पत्रिकाओं तथा अन्य प्रकार के साहित्य का संरक्षण तो है ही। चमूपति साहित्य विभाग के द्वारा ऋभु देवता, वैदिकपथ, महर्षि देवता, निरुक्त का मूल वेद में प्रकाशित किए गए। इसी विभाग से दो अन्य ग्रंथों का प्रकाशन भी हुआ। ये ग्रंथ थे, वानर और राक्षस मनुष्य थे? तथा ऋषि दयानन्द के उपकार। पंजाब जैसे उर्दू प्रधान प्रांत में इस संस्था के द्वारा हिन्दी का प्रचुर प्रचार हुआ। इस सभा ने अंग्रेजी तथा उर्दू के पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी मे अनुवाद किया। यथा अनुयोगाभिगमना (जमींदारी) वर्तमानाब्द। (वर्ष), व्ययनामा (बैनामा), असंमत (नान वोटिंग) जैसे शब्दों को स्वरूप तथा स्थिति प्रदान करना इसी सभा का कार्य था। इन शब्दों के गठन से हिन्दी भाषा का स्वरूप वृद्धि को प्राप्त हुआ। इन्होंने हिन्दी के बहुत से पर्याय या समानार्थक शब्दों को भी बढ़ाने का कार्य किया। उदाहरणार्थ, अधीक्षण (निरीक्षण) मति (संमति), नियति (नियुक्ति), आदि कतिपय शब्द यहां पर प्रस्तुत किए जा सकते हैं।

अब आर्य प्रतिनिधि सभा की हिन्दी सेवाओं पर ध्यान दीजिए। इसके स्थापना के ६ उद्देश्यों में से प्रथम तीन हिन्दी की सेवा का व्रत लिए हुए हैं। इस सभा की अधीनता में गुरुकुल की शिक्षा संस्थाएँ संस्थापित हुई जिनके अन्तर्गत हिन्दी के माध्यम से ही शिक्षा-दीक्षा का कार्य सम्पन्न होता है। यहां हिन्दी का एक वृहत् पुस्तकालय भी है। इस प्रतिनिधि सभा के अन्तर्गत ५८० आर्यसमाज हैं।

१२ प्रमुख स्थानों पर गुरुकुल तथा कानपुर, उन्नाव, देहरादून, बनारस, लखनऊ, अनूपशहर, एव मेरठ में डी० ए० वी० कालेज हैं। इन्हीं के साथ अनेक कन्या पाठशालाएँ, संस्कृत पाठशालाए तथा अनाथाश्रमों को भी नहीं विस्मरण किया जा सकता है जिनके माध्यम से हिन्दी के प्रसार मे आशातील सफलता मिली है। सभा का एक प्रकाशन विभाग है जिसके द्वारा हिन्दी के अनेक छोटे-बड़े ग्रंथ मुद्रित हो चुके हैं।

आर्य प्रतिनिधि सभा राजस्थान एवं मालवा के अन्तर्गत २०५ आर्यसमाज हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा बिहार के अन्तर्गत १५८ समाज हैं। आर्य प्रतिनिधि सभा मध्य प्रदेश के अन्तर्गत १२५ आर्यसमाज, आर्य प्रतिनिधि सभा वम्बई के अधीन ६२ आर्यसमाज, आर्य प्रतिनिधि सभा बंगाल एवं आसाम के अतर्गत ३०० आर्यसमाज हैं, आर्य प्रतिनिधि सभा हैदराबाद के अन्तर्गत १९६ सभाएँ हैं। इसी प्रकार सिंध की आर्य प्रतिनिधि सभा, पंजाब, सिध एवं बिलोचिस्तान की प्रतिनिधि सभा, अजमेर की सभा के अन्तर्गत सैकड़ों आर्यसमाज है जिनके द्वारा हिन्दी का प्रचार-प्रसार कार्य होता है। वम्बई की प्रतिनिधि सभा से तथा बंगाल एवं आसाम की सभा से हिन्दी में पत्र भी प्रकाशित होते है। इनके अतिरिक्त भारतवर्षीय आर्य कुमार परिषद् की स्थापना सन् १९०९ में की गई। इसके स्थापना का ग्यारहवाँ-उद्देश्य विशेष ध्यान देने योग्य हैं।उल्लेख हुआ है कि इसका उद्देश्य है आर्य-भाषा और नागरी लिपि का प्रचार करना। इसके द्वारा आर्य कुमार मासिक पत्र प्रकाशित हुआ। आर्य कुमार को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि उसने अमर शहीद संन्यासी, आर्य कुमार गीता, तथा आर्य कुमार स्मृति जैसे महत्त्वपूर्ण ग्रंथो का भी हिन्दी मे प्रकाशन किया। गुरुकुल की शिक्षा माध्यम तो हिन्दी ही है। गुरुकुल की अनेक शाखाओं कुरुक्षेत्र, मटिंडू, रामकोट, झंज्जर, भटिंडा, सूरत, वैद्यनाथ, इन्द्रप्रस्थ में है जहां हिन्दी को सर्वाधिक प्रधानता दी जाती है। गुरुकुल कांगड़ी में हिन्दी की सात सहस्र पुस्तकों से सुशोभित एक बिशाल पुस्तकालय है। वाचनालय मे हिन्दी की प्रायः समस्त पत्र-पत्रिकाएँ आती हैं। आने वाले दैनिक, साप्ताहिक तथा पत्रिकाओं की संख्या प्रायः सैंतालीस है। पुस्तक, रचना विभाग इतिहास, संस्कृति, भौतिकी तथा रसायन शास्त्र पर हिन्दी मे अनेक सुदर ग्रंथों का प्रकाशन हुआ है। गुरुकुल वृन्दावन के स्नातकों ने उच्च कोटि की हिन्दी पुस्तकों का प्रणयन किया है। ज्वालापुर के गुरुकुल तथा उत्तर प्रदेश के अन्य गुरुकुलों में भी प्रसिद्ध विद्वानों द्वारा अध्यापन कार्य हिन्दी में ही सम्पन्न होता है। डी० ए० वी० कालेजों तथा कन्या महाविद्यालय ने भी इस दिशा में सराहनीय प्रयत्न किए। इन सस्थाओं के शिक्षा का माध्यम हिन्दी ही रही। कन्या महाविद्यालय में शिक्षार्जन के लिए विदेशो से बालिकाएँ आती थीं। विदेशों से आगत इन छात्राओं को भी हिन्दी का अध्ययन अनिवार्य था। इन सस्थाओं के द्वारा हिन्दी की पाठ्य-पुस्तकें भी प्रकाशित हुईं। इन पाठ्य-पुस्तकों को सरकार की मान्यता भी प्राप्त हुई। कुछ प्रसिद्ध पाठ्य-पुस्तकों के शीर्षक निम्नलिखित हैं "पहली पाठावली' सुबोध कन्या" "अक्षर दीपिका" "शब्दावली" "बाल विनय" "पत्र कौमुदी" "कथा विधि" "बालोद्यान" "संगीत" "संतवाणी" दान मीमांसा। इनमें से कुछ ग्रंथों के २७ संस्करण भी हुए। कन्या महाविद्यालय से "पांचाल पडिता" "भारती" तथा "जलविद सखा" पत्रिकाएँ भी प्रकाशित हुईं।

हिन्दी गद्य के प्रसार तथा परिपुष्टि में द्वारा प्रकाशित पत्र

ने महत्त्वपूर्ण योगदान प्रदान किया आर्यसमाज ने पत्रकारिता के द्वारा तीन दृष्टिकोणों की पूर्ति की प्रथम वैदिक धर्म का विधिपूर्वक प्रचार द्वितीय सामाजिक दोष का निराकरण तथा तृतीय हिन्दी का प्रचार एवं प्रसार। कहना न होगा कि इन तीनों तथ्यों की पूर्ति आर्यसमाज के इस कार्य द्वारा सम्पन्न हुई। स्वतः स्वामी जी की योजना थी कि पत्रकारिता द्वारा इन तीनों लक्ष्यों की पूर्ति की जाय। आर्यसमाज के अनुयायी तथा अन्य धर्मावलम्बियों का पारस्परिक संघर्ष तथा वाद-विवाद पत्रकारिता द्वारा २० वीं शताब्दी की दो दशाब्दियों तक चलता रहा है। सन् १८६७ में दो शक्तियां हिन्दी में पत्रिकारिता के माध्यम से हिन्दी की उन्नति करने के लिए अवतरित हुई। प्रथम है स्वामी जी तथा द्वितीय थे भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र। भारतेन्दु जी ने कवि वचन सुधा प्रकाशन की और स्वामी जी ने सिद्धांतों के प्रतिपादनार्थ पत्र-पत्रिकाओं के प्रकाशन की ओर संकेत किया। एक साहित्यिक था तथा द्वितीय साहित्यिक होने के साथ-साथ धार्मिक, सामाजिक एवं सांस्कृतिक अभिनेता। भारतेन्दु का प्रयास शुद्ध साहित्यिक अतः एकांगी था किन्तु स्वामी जी का प्रयत्न बहुमुखी था। आर्यसमाज के पत्रकारिता के तीन उत्थान हुए। प्रथम, आर्यसमाज के संस्थापन (सन् १६७५) काल से लेकर सन् १९०० तक। द्वितीय सन् १९०१ से १९२५ तक तथा तृतीय १९२५ से १९५५ तक।

आर्यसमाज पत्रकारिता के प्रथम उत्थान काल में पत्र-पत्रिकाओं की स्थिति बहुत कुछ अव्यवस्थित, अस्थायी तथा अनिश्चित रही। इस समय पत्र-पत्रिकाओं के विषय धार्मिक एव सामाजिक होते थे। आर्य दर्पण, आर्य भूषण, धर्म प्रकाश, आर्य समाचार, वलदेव प्रकाश, भारत सुदशा प्रवर्तक इस युग के प्रमुख पत्र थे। द्वितीय उत्थान में समाज की पत्रकारिता राष्ट्रीयता से सुसम्पन्न हो गई। जातीय संगठन, जन जागरण, एक भाषा प्रचार, विदेशी राज्य का अंत, धर्मसुधार, आर्यसमाज के सिद्धांतों का प्रचार तथा राष्ट्रीयता का प्रचार करना इस युग की आर्यसमाज पत्रकारिता का उद्देश्य था। आर्यसमाज की पत्रकारिता के तृतीय उत्थान में धर्मसुधार के साथ-साथ ही स्वदेशी आन्दोलन की धारा भी समाविष्ट हो गई। सन्१८७५ से लेकर १९५५ तक आर्यसमाज द्वारा प्रकाशित पत्रों में निम्नलिखित विशेष रूप से उल्लेखनीय है: आर्य भूषण (१८७६ ई०), भारत सुदशा प्रवर्तक (१८७९ ई०), वेद प्रकाश (१८८८ ई०), आर्य पत्र (१८८५ ई०), आर्य समाचार (१८८५ ई०), आर्य विनय (१८८५ ई०), आर्य सिद्धान्त (१८८७ ई०) आर्यावर्त (१८८७ ई०), भारत भगिनी (१८८८ ई०), राजस्थान समाचार (१८८९ ई०) परोपकारी (१८९०), तिमिर नाशक (१८९०), ब्रह्मावर्त (१८९० ई०), आर्यमित्र (१८९७-९८) पांचाल पंडिता (१८९७ ई०), सद्धर्म प्रचारक (१८८९ ई०), आर्य सेवक (१९०० ई०), दयानन्द पत्रिका (१९०७ ई०) भारतोदय (१९०१ ई०) उषा (१९०१ ई०) नवजीवन (१९१० ई०) सत्य सनाधर्म (१९१० ई०), आर्य (१९१८ ई०), वैदिक मार्तण्ड (१९११ ई०), भारती (१९२० ई०), श्रद्धा (१९२० ई०), वैदिक सन्देश (१९२१ ई०), हिन्दी (१९२२ ई०), जलविद् सखा (१९२२ ई०) अर्जुन (१९२३ ई०), सत्यवादी (१९२३ ई०) आर्य मार्तंड (१९२३ ई०) अलंकार (१९२४ ई०), आर्यजगत (१९२४ ई०) आर्य गजट (१९२४ ई०) आर्य जीवन (१९२४ ई०), गुरुकुल समाचार (१९२४ ई०) सत्यवादी (१९२५ ई०) प्रकाश (१९२५ ई०) सार्वदेशिक (१९२७ ई०) हिन्दी मिलाप (१९२८ ई०)

वेदोदय (१९३० ई०) गुरुकुल (१९३६ ई०) आर्य सन्देश (१९३६ ई०) जागृति (१९४० ई०) सम्राट गुरुकुल पत्रिका (१९४८ ई०), वेदवाणी (१९४९ ई०) वेदपथ (१९४९ ई०), मानवपथ (१९५२ ई०) आर्य शक्ति (२०१० वि०) ये समस्त पत्र-पत्रिकाएँ हिन्दी साहित्य एवं भाषा के विकास में प्रचुर सहायक हुईं। इन पत्रों से आर्यसमाज के अथक परिश्रम, असीम लगन, अत्यधिक अध्यवसाय के साथ हिन्दी सेवा का निरंतर परिचय प्राप्त होता है। इसके समर्थन में श्रद्धा (१९२० ई०) के सम्पादक का निम्नलिखित कथन पठनीय होगा।

"मैं देवनागरी लिपि को संसार की सब लिपियों का स्रोत और स्वाभाविक समझता हूँ। इसलिये इस श्रद्धा के साप्ताहिक दूत को उसी लिपि के द्वारा मात्रा पर भेजा करूंगा।"

१६ जुलाई १९२० को श्रद्धा के अंक मे 'हिन्दी पर अंग्रेजी की कलम मत लगाओ' लेख प्रकाशित हुआ। लेख में हिन्दी भाषा पर अंग्रेजी शब्दों को लादने की सामान्य प्रवृत्ति का विरोध किया गया। उसमें लिखा गया 'हम यह नहीं चाहते हैं कि अंग्रेजी से हिन्दी में कोई शब्द न लिया जावे, क्योंकि उन्नति के लिए शब्द परिवर्तन्य भी आवश्यक हैं। परन्तु इसका यह अभिप्राय भी नहीं है कि अपनी भाषा में उचित तथा उत्तम शब्दों के होते हुए भी हम हिन्दी पर अंग्रेजी की कलम चढ़ावें जैसा कि आजकल हमारे सामयिक साहित्य में ही होता है यह प्रवृत्ति बहुत भंयकर है जिसके लिए हमें अभी से सावधान हो जाना चाहिए।" श्रद्धा में प्रकाशित इन वाक्यों से आर्यसमाज के अनुयायियों के हिन्दी के प्रति असाधारण प्रेम का परिचय प्राप्त होता है। जलविद् सखा के मार्च १९३४ के अंक में सरकार की हिन्दी अवहेलना नीति की कटु आलोचना की गई है। सद्धर्म प्रचारक हिन्दी का प्रबल समर्थक था। इसने पंजाब मे हिन्दी प्रचार करके हिन्दी की असाधारण सेवा की। २८ फरवरी १९०८ के अंक में प्रकाशित सम्पादकीय चिराग तले अँधेरा के द्वारा आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब से हिन्दी का प्रयोग करने का निवेदन बड़े तर्कपूर्ण शैली मे किया गया था। गुरुकुल पत्रिका में राष्ट्रभाषा के पद पर हिन्दी को आसीन करने के लिए अनेक लेख प्रकाशित किए गए। सत्यकाम जी तथा डाक्टर रघुवीर इस प्रकार के लेखकों में विशेष उल्लेखनीय है। गुरुकुल में हिन्दी के समर्थन तथा उसे राष्ट्रभाषा के पद पर आसीन कराने के हेतु निम्नलिखित कतिपय महत्त्वपूर्ण लेख प्रकाशित कराये गए। भाषा की प्रगति, हिन्दी पर कुठाराघात, संस्कृतनिष्ठ हिन्दी ही राष्ट्रभाषा हो सकती है, हिन्दी की अनिवार्यता राष्ट्रभाषा, हिन्दी भाषा के प्रयोग।

अब हम गद्य एवं पद्य के क्षेत्र में आर्यसमाज की हिन्दी सेवाओं का मूल्यांकन करेंगे। सर्वप्रथम गद्य के क्षेत्र को ग्रहण कीजिए। स्वामी जी ने वाचानुलेखन द्वारा सत्यार्थ प्रकाश की रचना सन् १८७४ ई० में की। आर्यसमाज की ओर से यह हिन्दी का सर्वप्रथम गद्य ग्रंथ था। इसकी भाषा-शैली के उदाहरण हम पहले भी प्रस्तुत कर चुके हैं। इसकी भाषा बहुत कुछ अपरिपक्व थी। परन्तु कालांतर में स्वामी जी ने सिद्धान्त प्रतिपादन, शास्त्रार्थ, व्याख्यानों, तथा ग्रंथों की रचना करके अपनी भाषा को सुव्यवस्थित बना लिया था। स्वामी जी का गद्य संस्कृत से प्रभावित हुआ करता था। कुछ वर्षों बाद (सं० १८८४ ई०) सत्यार्थ प्रकाश द्वितीय संस्करण निकला। अब आर्यसमाजियों के समक्ष न केवल सिद्धांतों के निर्धारण के हेतु वरन् साहित्यिक भाषा के आदर्श के रूप की दृष्टि से यह उत्तम ग्रंथ मान गये। १९ वीं शताब्दी में हिन्दी गद्य विषयक

इससे सदर ग्रथ नही निकला २० वी शताब्दी मे गद्य के क्षेत्र मे बहुत सन्दर ग्रथो की रचना हुई इस शताब्दी मे अनुवाद सम्बन्धी तथा मौलिक ग्रथो की दृष्टि से प्रचुर गद्य रचना हुई। इन ग्रथो मे गद्य का सुष्ठु एव विकासशील स्वरूप समुपलब्ध होता है। आर्य समाज को इस बात का श्रेय प्राप्त है कि इस संस्था के द्वारा हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें नियमित रूप से प्रस्तुत की गई। इस संस्था ने हिन्दी गद्य में साहित्य-व्याकरण, इतिहास, राजनीति, अर्थशास्त्र, समाजशास्त्र, दर्शन आदि विषयों की पाठ्य-पुस्तकें विरचित कराईं। पं० रामनारायण मिश्र ने लिखा है "हिन्दी में सब विषयों की पाठ्य-पुस्तकों के निर्माण के लिए आर्य समाज की शिक्षा संस्थाओं के अतिरिक्त अन्य संस्थाओं को भी प्रेरित करने के उद्योग आर्यसमाजी विद्वानो ने किया है। "आर्यसमाज के प्रयत्न से हिन्दी में नाटक (स्वर्ग में सब्जेक्ट कमेटी तथा स्वर्ग मे महासभा) उपन्यास कहानियाँ तथा जीवन चरित्रों (दयानन्द की दिनचर्या, दयानन्द दिग्विजय, महर्षि श्री स्वामी दयानन्द सरस्वती का जीवन चरित्र, महर्षि स्वामी दयानन्द का जीवन चरितम्, आर्य धर्मेन्दु जीवन, स्वामी दयानन्द) की भी रचना हिन्दी गद्य के माध्यम से हुई। स्वामी दयानन्द कृत 'दयानन्द प्रकाश' का आर्यसमाज साहित्य में सर्वाधिक प्रचार हुआ। इसकी रचना १९१९ में हुई। सन् १८५० में इसका सप्तम संस्करण हुआ। उनका गद्य बड़ा सुंदर है। कहीं-कहीं पर तो गद्य-काव्य के सा आनन्द मिलता है। उदाहरणार्थ "महाराज की मूर्ति मनमोहिनी थी। उनके व्यक्तित्व का अद्भुत प्रभाव था। वे रेशमी वस्त्र पहने अथवा कौपीनधारी, सब दशाओं में प्रिय प्रतीत होते थे। उनका चलना, टहलना, बैठना आदि सब व्यापार प्यारा लगता था। वे सब क्रियाओं को करते मन को भाते थे। उनका कृपा कटाक्ष मन को मोह लेता और उनकी प्रेमभरी वाणी सबको तत्काल अपना लेती थी।"

स्वामी दयानन्द के अनन्तर पं० तुलसीराम ने सामवेद और श्वेताश्वतर उपनिषद् का भाष्य १८९८ में किया। लाहौर के पं० राजाराम ने ईश, केन, कठ, छान्दोग्य, मुंडक, मांडूक्य, श्वेताश्वतर, प्रश्न, तथा तैत्तरीय उपनिषदों का भाष्य सन् १८९९ ई० मे छांदोग्य तथा बृहदारण्य कथा अनुवाद प्रस्तुत किया। शर्मा जी ने जाति निर्णय, वैदिक इतिहासार्थ निर्णय, ओंकार निर्णय, त्रिदेव निर्णय, वार्षिक ग्रंथों की रचना की। पं० आर्य मुनि ने ईश, केन, प्रश्न, कठ, मुंडक का भाष्य तथा वेदान्त तत्व कौमुदी की रचना (सन् १९१५) में की। १९३३ ई० में पं० प्रियरत्न आर्य ने मम पितृ परिचय का प्रणयन किया। आर्यसमाज ने एक और महत्त्वपूर्ण कार्य किया। इस संस्था ने आर्यसमाजी दृष्टि से सम्पन्न उत्कृष्ट वैदिक विद्वानों से वेदमंत्रों का हिन्दी में अनुवाद कराया जो वैदिक विनय शीर्षक से प्रकाशित हुई। यह ग्रंथ भगवत भक्ति के भावों मे सम्पन्न है। स्वाध्याय सुमन, वरुण की नौका, आर्य सिद्धान्त विमर्श, वैदिक वाङ्मय का इतिहास, यजुर्वेद अनुभाष्य वैदिक सम्पत्ति, वैदिक जीवन, वैदिक स्वाध्याय मंजरी, वैदिक कर्तव्य शास्त्र, वैदिक सूक्तियाँ, ऋभुदेवता, वैदिक स्वप्न विज्ञान, वैदिक पशु यज्ञ मीमांसा, आदि ग्रंथों की भी रचना हिन्दी गद्य मे हुई। आर्यसमाज के सिद्धांतों और आदर्शों के प्रचार के हेतु पं० चन्द्रमणि, पं० भगवद्दत्त, पं० रामनारायण, पं० विश्वनाथ, पं० धर्मदेव, सातवलेकर जी, पं० ब्रह्मदत्त, पं० रघुनन्दन शर्मा, पं० युधिष्ठिर नारायण स्वामी, पं० प्रियव्रत जी, स्वा० वेदानंद आदि विद्वानों ने हिन्दी गद्य के माध्यम से सुन्दर ग्रंथों का प्रणयन किया इस साहित्य मे हिन्दी पद्य के

विकास के कदम, दिशायें तथा रूप देखा जा सकता है। इन ग्रंथों से आर्यसमाज के अनुयायियो मे न केवल सिद्धांतों का प्रचार हुआ वरन् हिन्दी गद्य का परिष्कृत रूप भी क्रमश: पाठकों के पास पहुचता गया। इसमें सन्देह नहीं है कि आर्यसमाज के लेखकों की भाषा बड़ी शुद्ध, संस्कृत-निष्ठ तथा मर्यादित हुआ करती थी। इन्होंने हिंदी साहित्य को महत्त्वपूर्ण योगदान दिया। उपर्युक्त परम्परा में कतिपय विद्वानो की रचनाओं का उल्लेख आवश्यक है। डा० वासुदेव शरण अग्रवाल की उरु ज्योति, नारायण स्वामी की आत्म दर्शन, कर्म रहस्य, मृत्यु और परलोक, प० गंगाप्रसाद की आस्तिकवाद, जीवात्मा, अद्वैतवाद, स्वामी नित्यानन्द की पुरुषार्थ प्रकाश, ला० दीवानचन्द्र के स्वाध्याय संग्रह, जीवन ज्योति, महर्षि दर्शन, दीपक, ऋषि संकेत, कर्मयोग, तत्वज्ञान हिन्दी गद्य निर्माण में विशेष सहायक हुई। विषय प्रतिपादन, शैली, भाषा, अभिव्यंजन शक्ति की दृष्टि से ये प्रौढ़ रचनाएँ हैं।

आर्यसमाज की प्रेरणा से प्रकाशित हिन्दी गद्य का संक्षिप्त विवरण विगत पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है। अब आर्यसमाज की हिंदी पद्य सेवा पर ध्यान दीजिए। जिस समय आर्यसमाज की स्थापना हुई, उस समय हिन्दी पद्य की धारा के प्रमुख नायक कृष्ण तथा नायिका राधा थी। उस युग के कवियों का प्रिय छंद सवैय्या था और भावाभिव्यक्ति का माध्यम पूर्ण रूप से व्रजभाषा थी। यदाकदा राष्ट्रीयता के गीत भी सुनाई देते थे, परन्तु इस युग के कुछ कवियो की प्रवृत्ति तथा सच्चाई पर तब संदेह होने लगता है जब हम उन्हें राष्ट्रीय कविता के साथ अंग्रेज महाप्रभुओ की प्रशंसा में छंद रचना में प्रवृत्त पाते हैं। भारतेन्दु का व्यक्तित्व ऐसा ही था। वे अंग्रेजों को भी प्रसन्न रखना चाहते थे और इधर युग प्रवर्तक कहलाने के लिए राष्ट्रीयता का स्वर भी छेड़ देते थे। ये चाटुकार, अविश्वसनीय, तथा दो चेहरे वाले व्यक्तित्व से सम्पन्न थे। ये कभी-कभी टैक्स, महँगाई, अकाल पर दो चार छंदों की रचना करके जनप्रिय बनने की चेष्टायें भी करते रहते थे। आर्यसमाज की स्थापना होते ही हिन्दी काव्य धारा में धार्मिक समाज सुधार सम्बन्धी तथा राष्ट्रीयता की प्रवृत्ति का समावेश हो गया। सन् १८८३ तक आर्यसमाज की स्थापना बम्बई, पजाब, उत्तर प्रदेश आदि में हो चुकी थी। आर्यसमाज के शैशव-काल में उसके अनुयायी बड़े उत्साही, लगनयुक्त तथा परिश्रमी थे। इस्लाम के अनुयायियों, ईसाइयों, सनातन धर्मी जनता के विरोधों में उन्होंने अपना कार्य शांतिपूर्वक किया। आर्यसमाजियों ने स्वामी जी के उपदेशो, सिद्धांतों तथा संदेशों को भजनों तथा गीतों द्वारा जनता तक पहुँचाने का अथक परिश्रम किया। इन्ही धर्म प्रचारकों एवं भजनोपदेशकों में चौधरी नवलसिंह का नाम उल्लेखनीय है। सन् १८८५ मे चौधरी नवलसिंह की लावनियों ने लाहौर में धूम मचा दी थी। चौधरी जी के तेजस्वी शब्द उनकी ऊँची आवाज और गाने का प्रभावशाली ढंग अद्भुत असर पैदा करते थे। (आर्यसमाज का इतिहास, प्र० भा०, पृ० १७९) भजन गायकों का काव्य-स्तर बहुत उच्च नहीं था क्योंकि उनका लक्ष्य काव्य-रचना न होकर सिद्धांतोपदेश था। भजनों की रचना जनता के वर्गों को ध्यान में रख कर की गई। इसीलिए इन भजनों की भाषा सरल, अप्रस्तुत योजना सरल, तथा अभिव्यंजना शैली सरल होती थी। जब ये भजन सस्वर पढ़े जाते थे तो जनता बड़ी तीव्रता के साथ उनकी ओर आकर्षित हो जाती थी। इसके स्तर के सम्बन्ध में सद्धर्म प्रचारक तथा आर्यमित्र में बड़ी-बड़ी आलोचनाएं प्रकाशित हुई ९ सद्धम में क्ष ने और उसके

साहित्य शीर्षक मे ३ जून १९०८ को लिखा था कविता के विषय म हम यही कहना है कि आर्य समाज ने कविता देवी का इतना अपमान किया है जितना कोई पूरी शक्ति से कर सकता था जिन लोगों के ऊपर कभी कविता देवी ने भूलकर भी दृष्टि निक्षेप नहीं किया, जिन्होंने कभी जन्म भर में एक बार भी सुकवियों का संग नहीं किया वे लोग गले के प्रभाव से. . . कवि-पदवी पाकर कविता देवी के नाम पर अकड़-अकड़ कर चलते तथा नगर-कीर्तनों में सरस्वती की कर्णशूल तुकबंदियों को सुना-सुना कर तालियों का प्रसाद पाते हैं। आर्यसमाज ने कविता के खंडनात्मक पद्यों तथा तुकबंदियों से बिगाड़ कर जितना पाप अपने ऊपर लिया है उससे निस्तार पाना कष्ट साध्य है।"

पं० राम जी लाल शर्मा ने 'आर्यमित्र' के शताब्दी अंक में लिखा था ". . . . . पद्य भाग तो ऐसा है जिसे देख कर हमारा सिर लज्जा से नीचे झुक जाता है। शब्द-सौष्ठव, पद-लालित्य और अर्थ गाभीर्य की बात तो अलग रही साधारण तुकबन्दी भी ऐसी अनूठी है कि जिसे देखकर हँसी आती है। छंदों की स्वच्छन्दता तो देखते ही बनती है। जहां छन्द शास्त्र की ही गुजर नहीं वहां बेचारे रसों और अलंकारों को कौन पूछता है।" परन्तु यहां यह नहीं भूलना चाहिए कि भजन गायकों द्वारा विरचित साहित्य का प्रयोजन साहित्य सर्जन न होकर, सन्देशों का प्रचार करना था। फिर भी इन भजनीकों की रचनाओं का हिन्दी साहित्य पर प्रभाव पड़ा। देखिये, आधुनिक काव्य धारा, पृ० ७३ तथा आधुनिक हिन्दी साहित्य का विकास पृ० ८६। आर्यसमाज की सुधार-वादिता के स्वर में स्वर मिलाकर सनेही, हरिऔध, रामचरित उपाध्याय, महावीरप्रसाद द्विवेदी, मैथिलीशरण गुप्त ने सुधारवादी काव्य की रचना की। इनमें से हरिऔध तथा रामचरित उपाध्याय ने कृष्ण तथा राम को देवत्व से लाकर महापुरुषत्व की प्रतिष्ठा से सुशोभित किया। भजनीकों के काव्य के विषय थे—बाल-विवाह, नारी-चेतना, अंधविश्वास, शुद्धि, मूर्तिपूजा।

आर्यसमाज के पद्य रचयिताओं में कुछ अच्छे कवि थे। इस वर्ग के कवि अपेक्षाकृत अधिक गंभीर, उपयोगी तथा महत्त्वपूर्ण विषयों पर काव्य-रचना करते थे। इनकी शैली में गाम्भीर्य, शब्द-चयन सुष्ठु तथा भाषा शुद्ध एवं प्रभावशाली होती थी। उदाहरणार्थ देखिए, ईश्वर कविता से कतिपय पंक्तियां :—

जिसकी सता का कहीं, आदि, न मध्य न अन्त।
योगी है उस बुद्ध के, विरले सत महन्त॥
सर्वशक्ति सम्पन्न है, स्वगत सच्चिदानन्द ।
भूले भेद अभेद में, मान रहे मतिमंद॥—दिव्य दयानन्द, पृ० २०१

नम्नलिखित सवैय्या में शब्द-संचय सम्मोहक है :—

योग साधनों से होगा चित्त का निरोध और,
इन्द्रियों के दर्प की कुचल रुक जावेगी।
ध्यान धारणा के द्वारा सामाधिक धर्म धार,
चेतना भी संयम की ओर झुक जावेगी

मूढ़ता मिटाय महामेधा का बढ़गा वेग,
तुच्छ लोक लालच की लीला लुक जावेगी।
शंकर से पाय परा विद्या यो मिलेंगे युक्त,
बन्धन की वासना अविद्या चुक जावेगी।।—शंकरसर्वस्व, पृ० ४४

पं० नाथूराम शंकर 'शंकर' पं० अखिलेश शर्मा, श्रीमती सावित्री देवी 'प्रभाकर' डा० सूर्यदेव, पं० धर्मदेव, जैसे कवियों ने आर्यसमाज के मंच से समस्त गुणों से सम्पन्न, प्रभावशाली कलात्मक तथा सुधारवादी दृष्टि से युक्त काव्य की रचना की। दयानन्दायन प्रबंध-काव्य की रचना स्वर्गीय गदाधर सिंह ने की।

आर्यसमाज के वर्तमान अनुयायियों में से डा० धीरेन्द्र वर्मा, डा० बाबूराम सक्सेना, डा० मंगलदेव शास्त्री आदि ने भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण ग्रंथों की रचना की। प० हरिशंकर शर्मा ने रस रत्नाकर, आचार्य महोदय ने हिन्दी ध्वन्यालोक, आचार्य विश्वेश्वर ने वक्रोक्ति जीवित, डा० वासुदेवशरण अग्रवाल ने पदमावत (भाष्य), ग्रंथों की रचना की। इस युग के युगप्रवर्तक उपन्यासकार प्रेमचंद भी आर्यसमाज के उदार तथा सुधारवादी दृष्टिकोण से परिचित एवं प्रभावित थे। उनकी रचनाओं में आर्यसमाज के सिद्धांत मधुर शैली में व्यक्त हैं कहानी-लेखक सुदर्शन भी आर्यसमाज के अनुयायी हैं।

आर्यसमाज ने विदेशों में भी हिन्दी प्रचार का प्रयत्न किया। आर्यसमाज ने अफ्रीका मे हिन्दी तथा अपने सिद्धान्तों के प्रचार के लिए भाई परमानन्द को भेजा। भाई परमानन्द ५ अगस्त १९०५ को दक्षिणी अफ्रीका में पहुँचे। उन्होंने वहां पर हिन्दू सुधार सभा की स्थापना की और नवयुवकों में जागृति उत्पन्न करने के लिए 'हिन्दू यगमेन एसोसियेशन' की स्थापना की। ४ अक्तूबर १९०८ को स्वामी शंकरानन्द ने दक्षिणी अफ्रीका में पदार्पण किया। दक्षिणी अफ्रीका में हिन्दी का व्यापक प्रचार श्री भवानी दयालु संन्यासी द्वारा सम्पन्न हुआ। उन्होंने ट्रांसवाल मे हिन्दी प्रचार का कार्य प्रारम्भ किया। एतदर्थ ट्रांसवाल मे उन्होंने हिन्दी प्रचारिणी सभा, हिन्दी फुटबाल क्लब आदि की स्थापना की। डरबन नगर के क्लेर स्टेट में संन्यासी जी ने हिन्दी आश्रम का निर्माण कराके हिन्दी पुस्तकालय, हिन्दी विद्यालय, हिन्दी मुद्रणालय स्थापित किया। संन्यासी जी ने 'धर्मवीर' पत्र का सम्पादन करते समय अनेक ग्रंथों का प्रणयन किया। उदाहरणार्थ हमारी कारावास कहानी, शिक्षित और किसान नेटाली हिन्दू। इसके पश्चात् नवम्बर १९२५ मे उन्होने हिन्दी 'पत्र' निकाला। किंचित् काल में यह पत्र प्रवासी भारतीयों का लोकप्रिय बन गया और इसका प्रचार नेटाला, ट्रान्सवाल केप, रोडेसिया, मोजम्बिक, टांडानिका, यूगांड', केनिया, मोरिशस, फीजी, डमरारा, ट्रिनिडाड, जमेका, ग्रनेडा, सुरीनाम, आस्ट्रेलिया, कनाडा, न्यूजीलैंड आदि मे बडी तीव्रता के साथ हुआ। १९४८ में नैटाल में हिन्दी प्रचार के हेतु हिन्दी शिक्षा संघ की स्थापना हुई।

पूर्वी अफ्रीका के भारतीयों में उर्दू का अधिक प्रचार था। इसका कारण यह था कि पंजाबियों का यहां बहुमत था जो उर्दू के प्रबल पक्षपाती थे। आर्यसमाज के प्रयत्न से यहाँ भी हिन्दी का प्रचार हुआ आर्य प्रतिनिधि सभा पंजाब ने प० पूर्णानन्द को भेजा पंडित पूर्णानन्द

पूर्वी अफ्रीका तीन बार (सन् १९०४, १९०८ तथा १९२२) गए। उन्होंने कुम्वाभा, नैरोबी तथा कम्पाला में हिन्दी तथा संस्कृत की पाठशालाएँ खुलवाई। पंडित पूर्णानन्द के अनन्तर पं० महाराणी शंकर, स्वामी स्वतंत्रानन्द, पं० बालकृष्ण, पं० मणिशंकर, प्रो० ईश्वरदत्त मा० भगतराम, ठाकुर प्रवीण सिंह, पं० रविदत्त, पं० माथुर शर्मा आदि प्रचारकों को भेज कर हिन्दी का प्रचार कराया। पूर्वी अफ्रीका मे पं० सत्यपाल हिन्दी प्रचारकों में सर्वश्रेष्ठ थे। पूर्वी केनिया की राजधानी में सन् १९०३ में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस समाज ने हिन्दी प्रचारक संस्थाओं के साथ साथ पुस्तकालयों की स्थापना की।

नेरोबी में हिन्दी की रात्रि पाठशालाएं स्थापित हुई। १९४३ ई० में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, का परीक्षा केन्द्र भी स्थापित हुआ।

युगांडा की राजधानी कम्पाला में आर्यसमाज की स्थापना १९०८ में हुई। यहा पर सन् १९१२ में पं० महाराणी शंकर के प्रयत्न से हिन्दी का समुचित प्रचार हुआ। जंजीबार में आर्यसमाज की स्थापना का समय सन् १९०७ ई० है। यहा पर भी हिन्दी का प्रचार कार्य आर्यसमाज द्वारा किया गया। इसी प्रकार रागांनिका, मोरिशस में डा० निरंजीव भारद्वाज द्वारा, फिजी में पं० अमीचन्द्र विद्यालंकार, ठा० कुन्दन सिंह तथा ठा० सरदार सिंह द्वारा, डच गायना मे पं० अयोध्याप्रसाद द्वारा, ट्रिनिडाड मे पं० गिरजा दयाल द्वारा ब्रिटिश गायना में पं० चंद्रशेखर तथा लक्ष्मण प्रसाद द्वारा हिन्दी के प्रचार का कार्य सम्पन्न हुआ।

दक्षिण भारत में हिन्दी के प्रचार-कार्य का श्रीगणेश स्वामी श्रद्धानन्द ने १९२० में किया। स्वामी जी का अभिमत था कि हिन्दी प्रचार वैदिक धर्म को सर्वसाधारण में फैलाने का पहला साधन है। इसलिए मैं धर्म प्रचार के साथ इस पर भी अधिक बल दे रहा हूँ। देखिए, स्वामी श्रद्धानन्द सत्यदेव विद्यालंकार पृ० ५६६। स्वामी जी ने मैसूर में पं० भीमसेन जी विद्यालंकार तथा पं० गोपालदत्त को प्रचारार्थ भेजा। पं० धर्मदेव तथा पं० केशवदेव मद्रास में हिन्दी का प्रचार करने के लिए प्रेषित किए गए। केरल में अमोदान अण्णी जी ने हिन्दी के प्रचार के लिए अनेक प्रकार से प्रयत्न किए। चेंगनूर तथा कोट्टयम में पं० नारायण दत्त जी ने हिन्दी भाषा को जनप्रिय बनाने की चेष्टा की।

पंजाब तो प्रारम्भ से ही उर्दू का सुदृढ़ गढ़ तथा केन्द्र रहा है। पंजाब में हिन्दी के विरुद्ध वातावरण पूर्णतया विद्यमान था। इसका विरोध करते हुए श्री रघुनन्दन शास्त्री ने लिखा था :—

"हिन्दी की अपील केवल भावुकता के नाम पर है।... आजकल के पश्चिमी रंग में रंगे हुए साधारण कारोबार में उसका कोई कार्य नहीं पड़ता है। उसके ज्ञान के बिना जीवन-यात्रा में कोई कमी प्रतीत नहीं होती। न तो पंजाबी के समान हमें मां के दूध के साथ मिलती है और न अंग्रेजी के समान प्रभु भाषा होने के कारण यह हमें अनिवार्य रूप में पढ़नी पड़ती है। उर्दू के समान इसे राजाश्रय भी नहीं प्राप्त है परन्तु कालांतर मे आर्यसमाज के सत्प्रयत्न से पंजाब में वैदिक साहित्य, हिन्दी भाषा तथा आर्यसमाज के संदेशों का समान रूप से एक साथ प्रचार हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे कर्मठ व्यक्तियों के प्रयत्न से हिन्दी पंजाब जैसे अहिन्दी प्रदेश में पनप सकी। इस दृष्टि से लाला हंसराज तथा लाला देवराज के नाम भी

र ग्रंथ

१. हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति आर्यसमाज की देन, डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त।
२. आर्य डायरेक्टरी सार्वदेशिक सभा।
३. आर्य समाज का इतिहास, इन्द्र विद्यावाचस्पति।
४. पंजाब में हिन्दी की प्रगति, पं० रघुनन्दन शास्त्री।
५. विदेशों में आर्य समाज, सार्वदेशिक सभा।
६. राइज एंड ग्रोथ आव् हिन्दी जर्नलिज़्म, डॉ० रामरतन भटनागर।

पूर्वी अफ्रीका तीन बार (सन् १९०४, १९०८ तथा १९२२) गए। उन्होंने मुम्बासा, नैरोबी तथा कम्पाला में हिन्दी तथा संस्कृत की पाठशालाएँ खुलवाई। पंडित पूर्णानन्द के अनन्तर पं० महारानी शंकर, स्वामी [illegible], पं० बालकृष्ण, पं० मणिशंकर, प्रो० ईश्वरदत्त मा० भगतराम, ठाकुर प्रवीण सिंह, पं० [illegible] पं० माथुर शर्मा आदि प्रचारकों को भेज कर हिन्दी का प्रचार कराया। पूर्वी अफ्रीका में पं० सत्यपाल हिन्दी प्रचारकों में सर्वश्रेष्ठ थे। पूर्वी केनिया की राजधानी में सन् १९०३ में आर्यसमाज की स्थापना हुई। इस समाज ने हिन्दी प्रचारक संस्थाओं के साथ [illegible] पाठशालाओं की स्थापना की।

नेरोबी में हिन्दी [illegible] पाठशाला स्थापित हुई। १९४३ ई० में राष्ट्रभाषा प्रचार समिति, का परीक्षा केन्द्र [illegible] हुआ।

युगांडा की राजधानी [illegible] में आर्यसमाज की स्थापना १९०८ में हुई। यहां पर सन् १९१२ में पं० महारानी [illegible] में हिन्दी का समुन्नत प्रचार हुआ। जंजीबार में आर्यसमाज की [illegible] का प्रचार कार्य आर्यसमाज द्वारा [illegible] नरजीव भारद्वाज द्वारा, फिजी में पं० [illegible] सिंह द्वारा, [illegible] गायना में पं० अयो[illegible] डिश गायना में पं० चंद्रशेखर तथा लक्ष्मण [illegible]।

[illegible] श्रद्धानन्द ने १९२० में किया। स्वामी जी [illegible] साधारण में [illegible] का पहला साधन है। [illegible] रहा है। वैदिक, स्वामी श्रद्धानन्द [illegible] भीमसेन जी विद्यालंकार तथा पं० गोपाल[illegible] मद्रास में हिन्दी का प्रचार करने के लिए [illegible] हिन्दी के प्रचार के लिए अनेक प्रकार से [illegible] दत्त जी ने हिन्दी भाषा को जनप्रिय बनाने [illegible]।

पंजाब [illegible] रहा है। पंजाब में हिन्दी के विरुद्ध वातावरण [illegible] श्री रघुनन्दन शास्त्री ने लिखा था :—

"हिन्दी [illegible] अकाल के पश्चिमी रंग में रंगे हुए साधारण [illegible] ज्ञान के बिना जीवन-यात्रा में कोई कमी [illegible] नहीं होती [illegible] के साथ मिलती है और न अंग्रेजी के समान [illegible] पड़ती है। उर्दू के समान से राजाश्रय भी [illegible] प्रयत्न से पंजाब में वैदिक साहित्य, हिन्दी भाषा [illegible] साथ प्रचार हुआ। स्वामी श्रद्धानन्द जैसे [illegible] प्रदेश में पनप सकी। इस हेठ से लाल। [illegible] है।"

र ग्रंथ

१. हिन्दी भाषा और साहित्य के प्रति आर्यसमाज की देन, डा० लक्ष्मीनारायण गुप्त।
२. आर्य डायरेक्टरी सार्वदेशिक सभा।
३. आर्य समाज का इतिहास, इन्द्र विद्यावाचस्पति।
४. पंजाब में हिन्दी की प्रगति, पं० रघुनन्दन शास्त्री।
५. विदेशों मे आर्य समाज, सार्वदेशिक सभा।
६. राइज एंड ग्रोथ आव् हिन्दी जर्नलिज़्म, डॉ० रामरतन भटनागर।

गढ़वाल चित्रशैली

श्रीवाचस्पति गैरोला

भारत के अन्य पर्वतीय अंचलों की भाँति गढ़वाल का महत्त्व न केवल वहाँ की प्राकृतिक विशेषताओं के कारण विश्रुत है; बल्कि पौराणिक, धार्मिक और आध्यात्मिक आदि अनेक दृष्टियों से हमारे साहित्य में उसका जो माहात्म्य वर्णित है तथा वाल्मीकि, व्यास, कालिदास प्रभृति शानमना मनस्वियों की वाणियों की जो अमर छाप उस पर अंकित है, उससे उत्तराखण्ड विगत कई-सौ वर्षों से लोकसंपूजित होता आ रहा है।

लिखित रूप में गढ़वाल का यद्यपि बहुत कम साहित्य अब तक प्रकाश में आ सका है, किन्तु चित्रकला के क्षेत्र में उसकी जो शानदार देन रही है, सौभाग्यवश उसकी बहुत-कुछ थाती आज भी वर्तमान है।'

११वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर १९वीं शताब्दी के मध्य तक गढ़वाल की राजनीतिक व्यवस्था निरंतर संकटकालीन परिस्थितियों से आच्छन्न रही है; किन्तु उसके विपरीत उसका सांस्कृतिक एवं कलात्मक निर्माण उन्नतावस्था में रहा, जिसका संपूर्ण श्रेय गढ़वाल के यशस्वी कवि, चित्रकार और इतिहासकार मोलाराम को प्राप्त है।

मोलाराम ने गढ़वाल चित्रशैली की सर्वांगीण उन्नति के लिए जो कार्य किये उनका परिचय प्रस्तुत करने से पूर्व गढ़वाल चित्रशैली की सुदृढ़ पृष्ठिका के लिए कांगड़ा और गुलेर की शैलियों की जो देन रही है, उसका जानना इस दृष्टि से भी अधिक महत्त्वपूर्ण है; क्योंकि कांगड़ा, गुलेर और गढ़वाल—इन तीनों प्रान्तों की शैलियाँ एक ही पहाड़ी शाखा के पल्लवित रूप हैं।

कांगड़ा शैली का प्रभाव

१७७५ ई० की लिखी हुई उनकी एक कविता है, जिसमें वही आत्मप्रशंसा की तड़प है, किन्तु इस कविता को चित्रबद्ध करने के लिए उन्होंने जो शीर्षक दिया है, यद्यपि वह अनगढ़ है, फिर भी उसमें जो रेखाएँ दर्शित हैं उनमें गढ़वाल की नवीन शैली के प्रथम दर्शन होते हैं। चित्रों की यह प्रतिक्रिया हमें बताती है कि निश्चित रूप से १७७५ ई० या इससे लगभग छह-सात वर्ष पूर्व 'नया वर्ग' अस्तित्व में आ चुका था। यदि हम इस नवीन वर्ग की उपस्थिति १७६९-१७७५ ई० के मध्य में स्थिर करते हैं तो हमारी पहली संभावना कांगड़ा केन्द्र के कलाकारों के प्रति होती है, जहाँ से वे सर्वप्रथम गढ़वाल में आए। हमारी यह संभावना इसलिए भी अधिक दृढ़ है कि कांगड़ा और गढ़वाल की चित्रशैलियों में बहुत कुछ तारतम्य ही दृष्टिगत नहीं होता, वरन उनके वर्णनों की व्याख्या और उनमें चित्रित प्रेमाख्यानों के अति उत्फुल्ल स्वरूप भी इसकी पुष्टि करते हैं। इसके

विपरीत जब हम इन दोनों शैलियों के सिद्धान्त पक्ष पर बारीकी से विचार करते हैं तो हमारे समक्ष उनकी वे आड़ी-तिरछी रेखाएँ उभर आती है, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जिस प्रकार कांगड़ा की महान् शैली ही अपने विकास का आकस्मिक कारण सिद्ध हुई, ठीक वैसी ही, अपने निर्माण और अपनी उन्नति के लिए गढ़वाल की उक्त नवीन शैली ही एकमात्र कारण रही। १७८० ई० तक हमारे समक्ष ऐसा कोई भी प्रमाण विद्यमान नही है, जिससे कि यह सिद्ध हो कि कांगड़ा के पास इस प्रकार का कोई चित्र था, जो कि किसी बाहरी कलाकार द्वारा कागड़ा में लाया गया या वहां के प्रसिद्ध कलाप्रेमी राजा संसारचन्द के शासन काल (१७७५–१८२३ ई०) में अस्तित्व में आया हो।

इन सभी बातों के बावजूद भी हमें यह मान लेने में संकोच नहीं करना चाहिए कि गढ़वाली चित्रकला, कागड़ा की एक शाखा के रूप में ही जन्मी और उसका विकास १७८० ई० के ही बाद हुआ। हमारी यह धारणा भले ही ऊपर प्रकट किए गए विचारों के अनुरूप न बैठती हो, किन्तु तथ्य यही है। राजा संसारचन्द के शक्तिशाली संरक्षण के समय से ही कांगड़ा के कलाकार वहा से विकेंद्रित होने लग गए थे।

गुलेर शैली का प्रभाव

सैद्धान्तिक दृष्टि से इन दोनों शैलियों पर विचार करने में कुछ मौलिक कठिनाइयाँ उपस्थित होती हैं। जब कि १९वीं शताब्दी में कांगड़ा शैली का अन्य केन्द्रों में प्रसार हुआ, उस समय तक उस पर दूसरी ग्राम्य-शाखाओं का पर्याप्त प्रभाव पड़ चुका था। दूसरी ओर गढ़वाल की प्रामाणिक एवं वैयक्तिक शैली से कांगड़ा की शैली का एक निश्चित लगाव रहा है, किन्तु उनके बीच घनिष्ठ अवलम्बन का अभाव था। इस दृष्टि से कदाचित् यह मान लेना अनुचित नही है कि ये दोनों शैलियाँ उस कलात्मक स्रोत की दो अलग-अलग धाराएँ थीं, जिनका विकास उनकी असमान परिस्थितियों के अनुसार अलग-अलग रूप से हुआ। यदि यह मन्तव्य कलाविद् विद्वानो को स्वीकार्य हो तो, कदाचित् इसकी आधार भूमि कुछ उसी ढंग से निर्मित हुई, जैसे १७८० ई० मे गुलेर के कलाकारों ने कांगड़ा में प्रवेश कर कांगड़ा शैली के नव-निर्माण के लिए एक समर्थ भूमिका तैयार की।

हमें विदित है कि गुलेर के राजा गोबर्द्धन सिंह के राज्यकाल (१७३०-१७७३) में वहां की चित्रशैली में एक तीक्ष्ण प्रयोगों का सिलसिला व्याप्त था। प्रेमाख्यान विषयक कविताएँ अतिशय कोमल भावों में चित्रित की जाती थीं। स्त्रियों के चित्रों में तरल सौन्दर्य का समावेश रहता था, जिनमें लुभावनी ऐंद्रिकता का गुण तीव्रता के साथ उभरता दिखाई देता था। यद्यपि कुछ बाद की कलाकृतियों में इस तीव्रता की कमी थी, फिर भी ये सभी बातें मिलकर एक नई स्वच्छन्द शैली के निर्माण की सूचना दे रही थी। नवीन कहावतों के साथ नई रीतियाँ प्रकाश में आ रही थीं। ठीक इसी समय यदि गुलेर शैली के कलाकार गढ़वाल चले गए होते तो निश्चित ही एक मिली-जुली शैली प्रकाश में आ गई होती। इसी प्रकार यदि तत्काल ही कुछ कलाकार कांगड़ा चले गए होते तो वहां से भी समान शैली के बीज अंकुरित हुए होते। इस भाँति कांगड़ा तथा गढ़वाल के मूल आधार पूववर्ती गुलर शैली के अभ्यासों से ओत प्रोत होत परस्पर वे एक-दूसरी से

मिलती-जुलती और उन सभी के मूल में एक ही नवीन कलात्मक प्रवृत्ति का प्रतिनिधित्व दर्शित हुआ होता।

प्रतीत होता है कि राजा गोबर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् गुलेर के कलाकारों के समक्ष एक संकट की स्थिति पैदा हुई होगी, बल्कि कुछ असंभव नहीं कि उनकी मृत्यु के पूर्व ही कलाकारों की संरक्षण-व्यवस्था में शिथिलता आ गई हो और उस स्थिति में वे आश्रयरहित कलाकार जीविका की चिन्ता में अन्यत्र आश्रय पाने की इच्छा में न निकल पड़े हों। अथवा यह भी संभव हो सकता है कि एक बाहरी शासक ने जब कुछ कलाकारों को अपने यहाँ आने के लिए आमंत्रित किया होगा तो उसके साथ दूसरे कलाकार भी चलते बने होंगे। एक गुलेर कलाकार पंच के संबंध में पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध है कि दरबार की पूर्ण समृद्धि में एवं वैभवावस्था में ही उसने वहां का संरक्षण त्याग दिया था।

गुलेर से कलाकारों के विकेंद्रित होने का एक दूसरा कारण भी दिखाई देता है। १७८३ ई० के लगभग सिक्ख उपद्रवकारियों ने सारे पंजाब और यहां तक कि गढ़वाल तथा देहरादून के पर्वतीय भागों में बड़ा आतंक मचाया हुआ था। गुलेर से होकर जाने वाला सामान्य मार्ग भी सिखों द्वारा नष्ट कर दिया गया था। ऐसी अरक्षा एवं ऐसे आतंक के समय अनेक कलाकारों को दूसरे दरबार की शरण में जाने के लिए बाध्य किया होगा। कांगड़ा रियासत वहां से लगभग ४० मील की दूरी पर थी। स्पष्ट था कि कुछ कलाकार वहां त्राण पाने के लिए उद्यत हुए होंगे, किन्तु वहां का तत्कालीन राजा घमंडचंद शक्तिशाली होता हुआ भी भावुकता हीन था। इसलिए बहुत संभव है कि आश्रय के इच्छुक गुलेर के कलाकारों ने समीप की रियासतों को छोड़कर, दूर की रियासतों की ओर प्रस्थान किया होगा। गढ़वाल वहां से लगभग २०० मील की दूरी पर था और वहां जाने के लिए मार्ग की व्यवस्था भी थी। फिर भी, इस संबंध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है।

१७७२-१७८० ई० में गढ़वाल की राजगद्दी पर महाराज ललित शाह बैठे। उनकी दो रानियों से चार पुत्र हुए, जिसमें जयकृतशाह को तो उन्होंने गढ़वाल की राजगद्दी पर प्रतिष्ठित किया और दूसरे पुत्र प्रद्युम्नशाह को प्रद्युम्नचन्द के नाम से कुमाऊँ की राजगद्दी का स्वामी नियुक्त किया। प्रद्युम्नशाह ने १७८५-१८०४ ई० तक लगभग १९ वर्ष, कुमाऊँ में शासन किया।

राजा प्रद्युम्नशाह का विवाह गुलेर राजवंश अजबसिंह की कन्या से हुआ था। विवाह के अवसर पर एक बहुत बड़ी बारात गढ़वाल से गुलेर गई थी और राजकुमारी को साथ लेकर वापिस आई। इस अवसर पर निश्चित ही गढ़वाल के राजा ने गुलेर की कला के लिए उत्सुकता प्रकट की होगी। कुछ असंभव नहीं कि गुलेर के राजवंश ने ही तत्कालीन रीति-रिवाज के अनुसार दहेज में कुछ कला-कृतियां या कलाकार भेंट किए हों। इस संबंध में यह भी अधिक युक्ति संगत जान पड़ता है कि परिणीता राजकुमारी को ही चित्रों का शौक रहा हो और उसके आग्रह पर कुछ कला-कृतियाँ तथा कलाकार गढ़वाल आये हों। इस प्रसंग में हमें बसोली की राजकुमारी को चित्रकार माणकू द्वारा प्रदत्त 'गीतगोविन्द' की सचित्र प्रति का स्मरण हो आता है। यह बात भी सही है कि उस समय राजमहलों में ऐसी नारियों की अधिकता थी, जो चित्रों में ही व्यस्त रहती थीं और अपने वस्त्रों में से चित्र को निकालकर उनके उलटने-पुलटने में ही घंटों भूली रहती थीं।

ऐसी स्थिति में यह असंभव प्रतीत नहीं होता है कि कुछ गुलेर चित्रकार बारात के साथ गढ़वाल आए हों और स्थायी रूप से वहीं बस गए हों।

इन संभावित परिस्थितियों को देखकर और साथ ही गढ़वाल-गुलेर के चित्रों में इतनी घनिष्ठ समानता का अंदाजा लगाकर हमारे उक्त अभिमत में किसी प्रकार की असत्यता या द्विविधा नहीं दिखाई देती है। हम निश्चित रूप से कह सकते हैं कि वे गुलेर के ही चित्रकार थे, जो गढ़वाल गए थे और वहां के स्थानीय चित्रकार मोलाराम की ईर्ष्या के बावजूद भी जिन्होंने अपना विशिष्ट स्थान बना लिया था।

गढ़वाल शैली के चित्रों का वर्गीकरण

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ से लेकर अन्त तक के जो चित्र गढ़वाल शैली की दिशा में एक अपूर्व विशेषता का द्योतन करते हैं, आर्चर साहब ने उनका बारीकी से अध्ययन कर उन्हे दो भागों में विभक्त किया है।

प्रथम भाग में लगभग बीस उत्कृष्टतम कृतियाँ हैं, जो कि स्पष्टतः एक ही कलाकार द्वारा निर्मित हैं। उस महान् कलाकार का नाम विदित नहीं है, किन्तु उसकी इन कृतियों में निहित कुछ विशिष्ट गुणों को लक्ष्य करके यह कहा जा सकता है कि उनके तीन क्रम-बद्ध स्वरूप हैं।

पहले स्वरूप की कृतियों में गढ़वाल की आरंभिक शैली की प्रतिक्रिया व्यंजित है। अपनी गीतात्मक कोमलता के कारण यह शैली स्पष्टतः गुलेर के प्रयोगों पर आधारित है, किन्तु इसमे कुछ दर्शनीय नवीनता के भाव भी विद्यमान हैं। मुख की आकृति गुलेर-कलम से बहुत कुछ मिलती-जुलती है किन्तु उसमें नया मोड़ है। रंगों की योजना बहुत ही प्रभावोत्पादक है—गहरा, नीला, लाल और उसके पश्चात् गहरा काला तथा हरा। सचमुच ही यह ऐसी ही स्थिति है, जैसे देश परिवर्तन की परिस्थितियों ने उसकी भावुकता को झकझोर दिया हो और उसमें आकस्मिक परिवर्तन उभर आया हो, जिसमें एक विशिष्ट कलात्मक प्रभाव का अनुसंधान किया जा सकता है। विस्तृत पहाड़ी क्षेत्र, बहुत दूर क्षितिज के निकट बसा हुआ छोटा सा नगर और उसमें गहरी गाढ़ी नीलिमा, ये सभी बातें गुलेर शाखा के समान हैं। गहरी स्पष्ट सज्जा, परदों पर पड़ा हुआ हलका प्रकाश, कलात्मक स्रोत का तीव्रता से उद्घाटन करता है। फिर भी यह संपूर्ण शैली छाया-चित्र से सर्वथा असमान है, और इसके संबंध में हम एक ही निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि किसी समय गुलेर के कलाकारों ने अपने चित्रों के लिए छाया-शैली को अपना लिया था और अपनी इन विधियो से लाभ उठाया था। कुछ बाद के चित्रों में भी इस महत्त्वपूर्ण प्रभाव के अंश विद्यमान हैं।

दूसरे स्वरूप की कृतियां उनकी विभिन्न विशेषताओं के माध्यम से पहचानी जा सकती हैं। उनमें भूमि-चित्रों के प्रति एक नवीन भावात्मक प्रतिक्रिया के दर्शन होते हैं। जिस प्रकार गुलेर के चित्रकार नारी शरीर की नकल उतारते थे, उसी कोमल वक्रता के साथ पक्षिहीन वृक्ष-शाखाओं के चित्र उतारे जाने लगे थे। उनमें फूल-पत्ते तो बड़े भावुकतापूर्ण सूक्ष्मता से चित्रित किए जाते थे, जब कि वृक्षों की रचना इस ढंग से की जाती थी, जिससे उनके सभी लक्षण प्रत्यक्ष दिखाई दें। इस स्वरूप की कृतियों में नारी चित्रों की रेखायें हलके सौन्दर्य में रंजित होती थी। प्रकृति की कोमलता नारी की कोमलता मे प्रतिध्वनित होती थी प्रकृति की कोमलता का

प्रयोग केवल उत्कट दृश्यों को अंकित करने के उद्देश्य से या उन्हें उभारने के लिए भी किया जाता था।

तीसरे स्वरूप की कृतियों में एक गीतात्मक बहाव की अभिव्यक्ति प्रकट हुई है ऐसा प्रतीत होता है कि राजधानी के वृक्षों, पर्वतीय क्षेत्रों से प्रभावित होने से अनभिज्ञ कुशल कलाकार बरसात की मौसम में श्रीनगर की घाटी में दौड़ती हुई धारा, ऊपरी भाग नर नारायण नामक दो पर्वतों से टकरा कर घुमावदार भंवर वाली महती अलकनन्दा नदी के रूप में उल्लेखित है। बदरीनाथ शिखर समूहों में कुनलिङ् नामक पर्वत के दक्षिण-पश्चिम में नर और नारायण नामक दो सुन्दर पर्वत स्थित हैं। इनके पूर्व में नीलकंठ शिखर और पश्चिम में सतोपंथ की हिमानी अलकनन्दा का उद्गम है। रागिनियों के चित्रण में गढ़वाल का यह कलाकार विशेष रूप से संमोहित था और परिणामस्वरूप सीधी रेखाओं की एक नवीन शैली का निर्माण कर रहा था। पर्वतीय क्षेत्रों के चित्रण को सावधानीपूर्वक सम्पन्न करता हुआ और अपने भावनात्मक को एक घुमावदार प्रयोग देता हुआ वह नई निष्पत्तियों की दिशा में अग्रसर था। पेड़ और शाखों को झुके हुए रूप में चित्रित किया गया है। यहाँ तक कि पहाड़ियों में भी एक सामान्य उभार का पुट दिया हुआ है।

गढ़वाल चित्रशैली के दूसरे भाग में सामान्य कलाकारों की कृतियों को रखा गया है। इस संबंध में निश्चित रूप से यह नहीं कहा जा सकता है कि गढ़वाल चित्रशैली के निर्माण में कितने कलाकार संलग्न थे, किन्तु इतना निश्चित है कि विभिन्न स्तरों के अनुभवी एवं नवीन कलाकारों ने इन कृतियों का निर्माण किया था। इस भाग के चित्रों में बहुत से चित्र तो कोरे ही अनुकृत हैं। सुकुमार भावुकता को दर्शाने में बहुत से चित्रकार तो सामान्य श्रेणी के सिद्ध होते हैं। नारी रूप के समानान्तर पत्रहीन डालियों का प्रयोग, छोटे घुमावदार पेड़ों का प्रयोग, उरोग नाग की भांति चमकते हुए पुष्पों का चित्रण, चक्राकुल जल धाराएं मे मोड़ों में आभिप्राय इस सामान्य श्रेणी के लक्षण निर्धारित करते हैं।

गोरखा शासन और कलाकारों का निष्क्रमण

पर्वतीय प्रदेश गढ़वाल में लगभग तीस वर्षों तक इस प्रकार की शैली में चित्रकला फूलती-फलती रही। इस चित्रकला की अभ्युन्नति के लिए शांतिमय वातावरण की बड़ी आवश्यकता थी, और लगभग उन्नीसवीं शताब्दी के आरंभ में ही उसकी अगम भावी उपराम के लक्षण स्पष्ट होने लग गए थे। पंवार वंश के प्रतापी राजा प्रदीपशाह से लेकर प्रद्युम्नशाह तक गढ़वाल में जो क्रांतियां और ध्वंस हुए उनका इतिहास बताया जा चुका है। साथ ही यह भी संकेत किया जा चुका है कि राजा सुदर्शनशाह ने अंग्रेजों की सहायता से किस प्रकार गढ़वाल से गोरखा शासन की जड़ें उखाड़ीं और सुरक्षा की खोज में किस तरह उसने टेहरी में जाकर अपनी राजधानी को स्थापित किया।

गढ़वाल की चित्रकला के लिए यह राजनीतिक पराजय प्रलय के समान थी; क्योंकि आगन्तुक कलाकार पूर्णतः दरबार पर निर्भर थे और इस आकस्मिक पराजय के कारण उनकी जीविका के सभी साधन लुप्त हो गए। विजयी गोरखे भावुकतारहित थे, जिनके संरक्षण में चित्रकला का निर्माण सर्वथा असंभव था। उन्होंने गढ़वाल को इस प्रकार नष्ट भ्रष्ट कर डाला जिसकी तुलना

विद्वानों ने आयरलैण्ड के गोरखा शासन से की है। गोरखों के उस निर्मम के सम्बन्ध में इतिहासकार फ्रेजर ने लिखा है कि "बारह वर्षों तक गढ़वाल में शासन कर चुकने पर ऐसा प्रतीत होता है कि गोरखों ने गढ़वाल को जीतने में और उसके साथ व्यवहार करने में जो परिचय दिया उसका सीधा अर्थ यह निकलता है कि वे बदला ले रहे थे। गढ़वाल के सभी प्राचीन परिवार नष्ट कर दिए गए, जिन प्रभावशाली पदाधिकारियों को गिरफ्तार किया गया था उनकी या तो हत्या कर दी गई या उनको देश निकाला दे दिया गया। वहां के गाँव के गाँव जला दिए गए, लूट लिए गए तथा उजाड़ कर दिए गए। वहां के अधिकांश निवासियों को दासों की भाँति बेच दिया गया। आत्मरक्षा के लिए लोग घर एवं देश छोड़कर भाग निकले।"

ऐसे भयंकर संकट में निश्चित ही वहां के कलाकारों ने राजधानी तथा दरबार त्याग दिया होगा, कुछ उस नरसंहार के शिकार हो गए होंगे। उनमें से जो बच सके होंगे वे या तो गुलेर लौट आए होंगे या सनीर की रियासत सिरमौर में चले गए होंगे अथवा प्रद्युम्नशाह के भाई के साथ कांगड़ा चले गए होंगे। राजधानी श्रीनगर में केवल स्थानीय कलाकार मोलाराम ही शेष रह गया था। १७८० ई० में वह प्रद्युम्नशाह के भाई, नाममात्र के उत्तराधिकारी जयकीर्तिशाह से उलझ गया और फलस्वरूप सदा के लिए उसने शासन का अनुग्रह दे दिया।

ऐसा करके वस्तुतः मोलाराम ने, परिस्थिति के अनुसार अच्छा ही किया। उसकी इस दूरदर्शिता का परिणाम अच्छा ही सिद्ध हुआ। राजधानी के गोरखे शासकों को वह जानता था। उनके साथ उसने मेल-जोल बढ़ाया। फलस्वरूप गोरखा शासक हस्तिदल की मोलाराम से मित्रता हो गई। कुछ वर्षों तक मोलाराम का उनके साथ यह मैत्री सम्बन्ध बना रहा। इस समय मोलाराम ने जो चित्र बनाए उनमें भी उसके पिछले चित्रों की भाँति अपरिपक्वता विद्यमान है। किन्तु इसी बीच उसने एक महत्वपूर्ण कार्य यह किया कि अन्य संग्रहों से गढ़वाल शैली के कुछ उत्कृष्ट चित्र एकत्र किये।

मोलाराम और उसके कलाप्रेमी वंशज

गढ़वाल चित्रशैली के सम्बन्ध में अब तक जो कुछ भी बताया गया है उसके ओर-छोर तक सर्वत्र मोलाराम का व्यक्तित्व छाया हुआ है, किन्तु उससे मोलाराम की क्रमबद्ध जीवनी का परिचय नहीं मिल सकता है। वास्तविकता तो यह है कि मोलाराम का जीवन परिचय ही प्रकारान्तर से भारतीय चित्रकला के इतिहास में गढ़वाल शैली के विकास की कहानी है। इस दृष्टि से भी गढ़वाल शैली के अध्येता के लिए मोलाराम के सम्बन्ध में जान लेना आवश्यक प्रतीत होता है।

ऐतिहासिक दृष्टि से गढ़वाल चित्रशैली का अन्य पहाड़ी चित्रशैलियों की भांति प्राचीन महत्व है; किन्तु गढ़वाल शैली का एकमात्र प्रतिनिधि कलाकार मोलाराम का परिचय उपलब्ध न होने के कारण बहुत समय बाद तक इतिहास लेखक गढ़वाल शैली से सर्वथा अपरिचित रहे। कुछ ही वर्ष हुए, जब कि गढ़वाल के कुछ विद्वानों ने, भारतीय चित्रकला के इतिहास लेखकों को, एक सिद्धहस्त कवि, इतिहासकार तथा कलाकार मोलाराम का परिचय प्रस्तुत किया। इस प्रकार के विद्वानों में श्रद्धेय मुकुन्दीलाल, बार-एट-ला, का नाम प्रमुख है। तब से मोलाराम पर और भी कार्य हुआ।

श्री भक्तदर्शन ने अपनी पुस्तक 'गढ़वाल की दिवंगत विभूतियाँ' में [illegible] की जीवनी भी संकलित की थी। इस जीवनी को उन्होंने तत्संबंधी सभी प्रामाणिक सामग्री का साथ लेकर लिखा है। इसी पुस्तक के आधार पर यहां मोलाराम के संबंध में कुछ कहा गया है, किन्तु वे सभी बातें छोड़ दी गई हैं, जिनका संबंध पिछले पृष्ठों से है।

अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध से उन्नीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध तक गढ़वाल की धरती पर जो राजनीति का कुहा छाया हुआ था, कला, कविता और इतिहास की त्रिवेणी से उसको बहा देने का एकमात्र कार्य किया था मोलाराम ने।

मोलाराम के जीवन-पृष्ठ बड़े ही सतरंगे हैं। मुगल-शाहंशाह शाहजहां के दरबार में बनवारीदास उर्फ विशनदास, शाहजादा दाराशिकोह के साथ रहता था। भारतीय साहित्य के इतिहास के लिए दाराशिकोह की ज्ञान-देन सर्वथा अविस्मरणीय है। इसीलिए उसके साथ ऐसे व्यक्तियों का संयोग उचित ही था। शाहजहाँ की मृत्यु के बाद उसके उत्तराधिकार के लिए भयङ्कर झगड़ा हुआ तो दाराशिकोह के पुत्र सुलेमान शिकोह को गढ़वाल राज्य की शरण लेनी पड़ी। मई १६५८ ई० में वह राजधानी श्रीनगर पहुँचा और महाराज पृथ्वीशाह (१६४६-१६६० ई०) के दरबार में शरणार्थी बनकर रहने लगा। इसी समय चित्रकार शामदास अपने पुत्र हरदास को साथ लेकर शाहजादा के साथ श्रीनगर आया। लगभग एक वर्ष सात मास तक गढ़वाल राज्य की शरण में रहने के उपरान्त शाहजादा किसी राजनीतिक षड्यंत्र के कारण औरंगजेब के यहां, दिल्ली पहुँचा दिया गया; लेकिन गढ़वाल-स्वामी के आग्रह पर शामदास अपने पुत्र सहित वहीं रह गया। तभी से वहां के राज्याश्रय में रह कर एकान्त भाव से वह कला के सृजन में दत्तचित्त रहने लगा।

मोलाराम की वंश-परंपरा का यह आरंभिक चरण है, और यह जानकर हमें हर्ष होता है। इस विलुप्त इतिहास को सुरक्षित रखने का महान् कार्य किया है स्वयं मोलाराम की कविता ने।

उक्त चित्रकार शामदास की पांचवीं पीढ़ी में, लगभग सन् १७४० या १७४३ का श्रीनगर में मोलाराम का जन्म हुआ। उसके पिता का नाम मंगतराम और माता का नाम रामदेवी था।

मोलाराम का पैतृक व्यवसाय स्वर्णकारी (सुनारी) था, किन्तु साथ ही वह चित्रकार भी था, और इस प्रकार कलाकार की विरासत उसे जन्मतः ही उपलब्ध थी। इस दूसरी ही विरासत को उसने अपनाया और इस तरह भारतीय कला को वह महान् थाती दे गया।

प्रदीपशाह, ललितशाह, जयकृतशाह और प्रद्युम्नशाह गढ़वाल के इन चारों नरेशों के राज्य-काल में वर्त्तमान रहकर वह अपनी कला का सृजन किया और राज्य की ओर से यथेष्ट सम्मान और विपुल अर्थ अर्जित किया। अपने अपूर्व कार्य के माध्यम से इनकी प्रसिद्धि नेपाल तथा कांगड़ा तक पहुँच गयी। बाद में सिरमौर गुलेर तथा मंडी आदि तत्कालीन पहाड़ी शैली के कला-केन्द्रों में भी मोलाराम का यश फैला।

अकस्मात् ही गढ़वाल पर विपत्ति के घने बादल मंडराने लगे और देखते ही देखते कई वर्षों के लिए गढ़वाल की धरती को ढक दिया। गढ़वाल में यह गोरखों की उदय स्थिति थी जिसके

कारण गढ़वाल को जो क्षति उठानी पड़ी, इतिहासकारा ने अब तक यद्यपि उसको उतनी गहरी दृष्टि से नहीं देखा, उसको यदि समग्र गोरखा जाति के लिए आजन्म कलंक के रूप में देखा जाय तो हम गढ़वाल से गोरखा राज्य की उक्त उदय-स्थिति के परिणामों का सच्चा रूप देख सकते हैं।

किन्तु अपनी चतुराई से मोलाराम ने अपने लिए इस अंधकार में प्रकाश का मार्ग खोज निकाला। गोरखा सेना के सरदार तथा गवर्नर हस्तदल चौतरिया की पूरी कृपा प्राप्त कर ली। इस गोरखा गवर्नर ने कलाकार मोलाराम से गढ़वाल राज्य की उत्पत्ति और विकास का पद्यबद्ध इतिहास सुनाने के लिए कहा। मोलाराम बड़ा राजनीतिज्ञ भी था। उसने एक बार गोरखा गवर्नर को अंग्रेजी राज्य के आगमन तक की परिस्थितियाँ बता दी थी और समय आने पर उसने अंग्रेजों से संधि करने का परामर्श भी दिया।

अंग्रेजी राज्य की स्थापना और गढ़वाल की सत्ता अंग्रेजो के हाथों मे हस्तांतरित होने के बाद मोलाराम के समक्ष यह विकल्प उपस्थित हुआ कि परंपरागत राज्याश्रय के लिए सुदर्शन-शाह के टेहरी दरबार में चला जाय या जन्मभूमि श्रीनगर में ही रहें। अन्ततः उसने श्रीनगर मे रहने का ही निश्चय किया और जीवनपर्यन्त वहीं रह कर शेष कार्य किया। इस समय तक उसकी अवस्था ७५ वर्ष की हो चली थी। १८३३ ई० में उसकी मृत्यु हुई।

मोलाराम ने अपने पुत्रों को भी चित्रकला में दीक्षित किया था, किन्तु उन्होंने अपने पैतृक पेशा स्वर्णकारी को ही अंगीकार किया। उनके बड़े लड़के ज्वालाराम (१७८८-१८४८ ई०) ने कुछ स्केच अवश्य उतारे, किन्तु इन स्केचों का कला की दृष्टि से क्या महत्त्व है, सर्वसाधारण के सम्मुख प्रकाश में आने से पूर्व उनके संबंध में कुछ नहीं कहा जा सकता है। मोलाराम के छोटे पुत्र शिवराम (१७९०-१८५५ ई०) ने चित्रकारी की ओर अवश्य ध्यान दिया था, किन्तु युवावस्था में ही उसकी मानसिक स्थिति खराब हो जाने के कारण इस क्षेत्र में वह आगे न बढ सका। उनका दूसरा नाम आत्माराम भी बताया जाता है। मोलाराम की तीसरी-चौथी पीढी के व्यक्ति आज भी वर्तमान हैं।

मोलाराम प्रमुखतया चित्रकार था, किन्तु कविता, इतिहास और राजनीति में भी उसका असाधारण अधिकार था। हिन्दी के अतिरिक्त फारसी और संस्कृत में भी उन्होंने पद्यबद्ध रचनाएँ की। इनकी कविताएँ विषय की दृष्टि से तीन भागों में बांटी जा सकती हैं। पहले भाग की कविताएँ वे हैं जो कि चित्रों के व्याख्यास्वरूप लिखी गयी है। दूसरी कोटि की कविताएँ वे हैं जो गढ़वाल के तत्कालीन इतिहास के लिए प्रामाणिक सामग्री उपस्थित करती हैं। इस दिशा मे उसका काव्य ग्रन्थ 'श्रीनगर राज्य का इतिहास' है, जिसको कि १८०३ ई० में गोरखा गवर्नर हस्तदल के आग्रह पर लिखा गया था। तीसरे भाग की वे कविताएँ हैं जिनका विषय अध्यात्म है, और जिसके अनुसार उन्होंने एक नए अध्यात्म मार्ग 'मन्मथ पंथ' को प्रचलित किया था।

उनके महत्वपूर्ण ग्रंथ का नाम 'मन्मथ-सागर' है, जो कि अभी अप्रकाशित है, किन्तु इसके संबंध में श्री भक्तदर्शन जी ने प्रामाणिक विवरण अपनी पुस्तक में दिए हैं। इनकी अन्य स्फुट-रचनाएँ भी उपलब्ध हैं।

किन्तु मोलाराम की ख्याति एक कवि तथा इतिहासकार की अपेक्षा एक के रूप

में अधिक है। इन्होंने अनेक विषयों पर चित्र बनाए। कविसिद्ध कलाकार होने के नाते उन्हों बहुत ऊँचे शब्द-चित्र उतारे हैं। इनके चित्रों में नायिका भेद, षड्ऋतु, दशावतार, अष्टदुर्गा, प्र दाम्पत्य जीवन और राजपरिवार आदि का उल्लेख्य स्थान है।

मोलाराम रंगों के मिश्रण में बहुत ही सिद्धहस्त थे। सुनहरे और हरे रंग के मिश्रण में भी विशेष दक्ष थे। इनके चित्रों में नगाधिराज, हिमालय की दिव्य शोभा और गढ़वाल की सुषमामयी प्रकृति का सुन्दर चित्रण किया गया है। पशु-पक्षियों, वृक्ष-लताओं और नदी-प्रपातों के बड़े ही रस-भाव-पेशल चित्र दर्शनीय हैं। नर-नारायण नामक दोनों पर्वतों के बीच से बहती हुई पावन नदी अलकनन्दा का बड़ा ही मनोहारी भूमिचित्र है। नारी-चित्रों में दीपित अंगों का सौन्दर्य भी दर्शनीय है। व्यक्ति-चित्रों में इन्होंने मस्तिष्क पर अर्द्धचन्द्राकार चन्दन टीका अंकित किया है, जिससे कि उनके चित्रों की पहचान में बड़ी सहायता मिलती है।

मोलाराम, क्योंकि इतिहास-बुद्धि का कलाकार था, अतः उसने अपने प्रत्येक चित्र या चित्र संग्रह पर अपना नाम तथा निर्माण-तिथि अंकित की है। यह निर्माण तिथि उसने पद्य द्वारा प्रकट की है, जिसमें चित्र के विषय का भी संकेत रहता है।

इनके प्रसिद्ध चित्रों के शीर्षक हैं मोरप्रिया, मस्तानी, [illegible], [illegible], वासक-शय्या नायिका, अभिसारिका नायिका, उत्कंठिता नायिका, आदि। अनेक व्यक्तिगत संग्रहों के अतिरिक्त मोलाराम के चित्र देश-विदेश के विभिन्न संग्रहालयों में आज भी सुरक्षित हैं।

गढ़वाल शैली के अन्तिम चित्रकार

राजधानी श्रीनगर में मोलाराम की प्रसिद्ध चित्रशाला थी, जो कि राजधानी उठ जाने के बाद, मोलाराम के जीवन पर्यन्त बनी रही। [illegible] और [illegible] नामक दो बाहरी चित्रकारों ने इनसे चित्रकला की शिक्षा ली। टेहरी राजवंश के [illegible] ने मोलाराम से कई दिनों तक चित्रकला की शिक्षा प्राप्त की।

इनके दो यशस्वी शिष्य हुए, जिनके नाम थे चैतू और माणकू। कहा जाता है कि ये मोलाराम के भाइयों में से थे, किन्तु इस संबंध में किसी प्रकार के प्रामाणिक अभिलेख-सूत्र नहीं मिलते हैं। टेहरी राजधानी बन जाने के बाद संभवतया महाराज सुदर्शनशाह ([illegible] ई०) की संरक्षता में ये दोनों वहां चले गए। इनके कई चित्र आज भी टेहरी-दरबार में सुरक्षित हैं।

श्रीनगर से राजधानी उठ जाने के बाद टेहरी राजदरबार में गढ़वाल चित्रकला का रचनात्मक पुनर्जागरण हुआ। सर्वथा प्रतिकूल परिस्थितियों के रहते हुए भी टेहरी नरेश सुदर्शनशाह कला को संरक्षण देते रहे और १८१६-१८२५ ई० का समय था, जबकि उस क्षेत्र में हम चैतूशाह को उभरते हुए पाते है। चैतूशाह की शैली अपनी हलकी सज्जा और वातावरण स्पष्टता के कारण गढ़वाल-कलम में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखती है। उसने सुपरिचित स्थानीय शैली को अपनाया, किन्तु प्राचीन गुलेर कला से प्रभावित होकर ही उसने अपनी शिल्पविधियों को विकसित किया। 'यादव महिला हरण' उसका प्रसिद्ध चित्र उत्तम कलाकारिता का उदाहरण है, जिसको टेहरी दरबार में सुरक्षित बताया जाता है।

इस संबंध में यह संभव हो सकता है कि १७९० से लेकर उसके बाद तक गुलेर चित्रकला

वैदिक साहित्य में इतिहास और पुराण शब्द

डॉ० धर्मेन्द्रनाथ शास्त्री

वैदिक साहित्य में 'इतिहास' शब्द का प्रयोग केवल अथर्ववेद संहिता में (१५, ६, ११ १२) मिलता है। इस संहिता का संकलन अन्य संहिताओं के बाद में हुआ है, अतः अधिक सम्भव है कि इसके संकलन के समय तक साहित्य का एक वर्ग इतिहास नाम से प्रसिद्धि प्राप्त कर चुका हो, जिसमें कि अतीत युग से संबद्ध व्यक्तियों के चरित अथवा आख्यान रहे हों।

'पुराण' शब्द का प्रयोग, अथर्ववेद संहिता को छोड़कर सभी वैदिक संहिताओं में बड़े परिमाण में मिलता है। किन्तु वहां पर सभी स्थलों में इसका अर्थ प्राचीन है। अथर्ववेद संहिता में (१५, ६, ११, १२) 'इतिहास' शब्द के साथ ही 'पुराण' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। इस स्थल पर इसके प्रयोग से प्रतीत होता है कि यह शब्द साहित्य के एक विशेष वर्ग की ओर संकेत कर रहा है।

प्राचीन युग में वेदों की संहिताओं के समान 'पुराण' नाम की भी सम्भवतः कोई संहिता रही होगी, जिसमें कि प्राचीन कथाओ का संग्रह रहा होगा। वेद-संहिताओं के मन्त्रों की व्याख्या करने में भी लोग पुराण संहिता के आख्यानों से सहायता लेते रहे होंगे, क्योंकि कहा गया है :—

इतिहासपुराणाभ्यां वेदं समुपबृंहयेत्।
विभेत्यल्पश्रुताद्वेदो मामयं प्रहरेदिति॥—महाभारत, आदिपर्व, अ० २६७

अर्थात्, 'इतिहास' और 'पुराण' की सहायता से वेद की व्याख्या करनी चाहिए। क्योंकि अल्पज्ञानी से वेद को भय रहता है कि कहीं वह उसके अर्थ का अनर्थ न कर बैठे।

संहितोत्तर वैदिक साहित्य में 'इतिहास' और 'पुराण' इन दोनों शब्दों का प्रयोग प्राय एक साथ मिलता है—शांखायन ब्राह्मण (८, ११), शतपथ ब्राह्मण (११, ५, ६, ८; ११, ५, ७, ९), गोपथ ब्राह्मण (१, १, २१)—ऐसे स्थलों पर दोनों में अन्तर स्पष्ट लक्षित नहीं होता है। दोनों ही शब्दों का सम्बन्ध अतीत युग के वृत्तान्तों अथवा चरित्रों से है। परन्तु वैदिक काल में 'इतिहास'-'पुराण' शब्द से पुकारे जाने वाले आख्यानात्मक साहित्य का महत्वपूर्ण स्थान था। इसीलिये छान्दोग्य उपनिषद् (७, १, ४) में इतिहास-पुराण को पंचमवेद माना गया है :—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेद आथर्वणश्चतुर्थ इतिहास-पुराणं पंचमो वेदानां वेदः। स होवाच ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि, यजुर्वेदं सामवेदामाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।—७, १, २

विज्ञानेन वा ऋग्वेदं विजानाति यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्।—११, ७, २४

अर्थात् ऋग्वेद यजुर्वेद सामवेद और चौथा अथर्ववेद है और इन चारों वेदों के अतिरिक्त 'इतिहास-पुराण' पांचवां वेद है।

छान्दोग्य उपनिषद् के ऊपर के उद्धरणों में 'इतिहास' और 'पुराण' दोनों शब्दों का एक साथ एक वचन में प्रयोग किया गया है। 'इतिहास' और 'पुराण' नाम से पुकारे जाने वाले साहित्य के दोनों वर्गों का इतिवृत्तात्मक अथवा आख्यानात्मक स्वरूप होने के कारण संभवतः दोनों का एक वचन में समवेत प्रयोग किया गया है। यहां 'इतिहासपुराणं पंचमं वेदानां वेदम्' जो कहा गया है, वह इस वर्ग के साहित्य को विशेष महत्त्व प्रदान करने के लिये ही है। चारों वेदों का महत्व तो निर्विवाद रूप से स्वीकृत था। परन्तु वैदिक संहिताओं की रचना के एक दीर्घ युग के बाद एक ऐसा युग आया जब मन्त्रों के वास्तविक अभिप्राय को समझने में कठिनाई का अनुभव किया जाने लगा। उस समय कुछ आचार्यों ने 'इतिहास-पुराण' नाम से इतिवृत्तात्मक और आख्यानात्मक सकलन ग्रंथों की सहायता से मन्त्रों की व्याख्या करने का प्रयास किया। उत्तरोत्तर, इस वर्ग के साहित्य का महत्त्व दिन प्रतिदिन बढ़ता गया। इस संवर्द्धित महत्त्व को दृष्टि में रखकर ही सम्भवतः इसे 'पंचम वेद' माना गया है।

अथर्ववेद में एक स्थल पर (११, ७, २४) चारों वेदों की रचना के साथ ही 'पुराण' की रचना का उल्लेख मिलता है:—

ऋचः सामानि छन्दांसि पुराणं यजुषा सह।
उच्छिष्टाज्जज्ञिरे सर्वे दिवि देवा दिविश्रितः॥

अथर्ववेद के इस मन्त्र से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अथर्ववेद संहिता के संकलन-काल में न केवल पुराण संहिता की रचना हो चुकी थी, अपितु उसने वैदिक वाङ्मय में एक महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया था। यदि ऐसा न हुआ होता तो चारों वेदों की श्रेणी में उसे सम्मानपूर्ण पद न मिला होता। अन्य वेदों के साथ 'पुराण' का उल्लेख किया जाना ही इस बात का परिचायक है कि उस युग में 'पुराण' का महत्त्वपूर्ण स्थान बन चुका था और वैदिक संहिताओं के समान उसे भी आदरणीय माना जाता था। वैदिक संहिताओं के साथ 'पुराण' का उल्लेख होने से एक बात और भी ध्वनित होती है और वह यह कि पुराण संहिता का आकार भी ऋग्, यजुः साम एवं अथर्व संहिताओं से कम न रहा होगा। बहुत संभव है कि पुराण का आकार वैदिक संहिताओं से भी विशाल रहा हो। जिस प्रकार विषय की विविधता और आकार की विशालता के कारण ही महाभारत को पंचम वेद कहा जाने लगा, उसी प्रकार सम्भवतः पुराण को भी यह गौरव मिला होगा।

कौटलीय अर्थशास्त्र (१,३) में चारों वेदों के साथ इतिहास को भी वेद कहा गया है:—

सामर्ग्यजुर्वेदास्त्रयस्त्रयी। अथर्ववेदेतिहासवेदौ च वेदाः।

इस सूत्र में प्रयुक्त 'इतिहास' शब्द का अभिप्राय भी वही है जो 'पुराण' का है। ऊपर कहा गया है कि दोनों शब्द समानार्थक से रहे हैं। दोनों का वैदिक साहित्य में प्रयोग भी अदल-बदल कर प्रायः पर्याय के रूप में पृथक् या एक साथ होता रहा है। ऊपर के सूत्र में एक विशेष बात भी कही गयी है कि वेद त्रयी का निर्देश पृथक किया गया है और अथर्ववेद का

इतिहास वेद से मिला कर। यह सम्भवतः इतिहासवेद के साथ अथर्ववेद की घनिष्ठता प्रकट करने के लिये। अथर्ववेद के साथ 'इतिहास पुराण' की घनिष्ठता छान्दोग्य उपनिषद् (३, ४ १–२) में भी बतायी गयी है :—

अथ येऽस्योदंचो रश्मयस्ता एवास्योदीच्यो मधुनाड्योऽथर्वाङ्गिरस एव मधुकृत इतिहास पुराणं पुष्पं ता अमृता आपः।

ते वा एतेऽथर्वाङ्गिरस एतदितिहास-पुराणमभ्यतपंस्तस्याभितप्तस्य यशस्तेज इन्द्रियं वीर्यमन्नाद्यं रसोऽजायत।

इन दोनों उद्धरणों में इतिहास-पुराण के साथ और किसी वेद का उल्लेख नहीं है। केवल अथर्ववेद के साथ उसकी घनिष्ठता आलंकारिक रूप से बतायी गयी है।

ब्राह्मण और आरण्यक ग्रंथों में प्रायः ऊपर बताये गये अर्थ में 'पुराण' शब्द का प्रयोग लगभग अड़तीस स्थलों पर हुआ है। परन्तु 'इतिहास' शब्द केवल तेरह स्थानों पर ही आया है। 'इतिहास' शब्द का शतपथ ब्राह्मण में एक प्रयोग विशेष ध्यान देने योग्य है। इसमें इतिहास को वेद बताया गया है :—

मत्स्याश्च मत्स्यहतश्चोपसमेता भवन्ति तानुपदिशति। इतिहासो वेदः सोऽयमिति कंचिदितिहासमाचक्षीतैवमेवाध्वर्युः सम्प्रेक्ष्यति न प्रक्रमान् जुहोति।

—शतपथ ब्राह्मण १३, ४, ३, १२

परन्तु विद्या के रूप में चारों वेदों के साथ 'इतिहास-पुराण' का उल्लेख एक अन्य स्थल पर भी हुआ है। यह इस प्रकार है :—

अस्य महतो भूतस्य निश्वसितमेतद् ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहास पुराणं विद्या उपनिषदः श्लोकाः सूत्राण्यनुव्याख्यानानि व्याख्यानानि।

—शतपथ ब्राह्मण १४, ५, ४, १०

इसी प्रकार बृहदारण्यक उपनिषद् में भी 'इतिहास' और 'पुराण' शब्दों का एकवचन में समवेत प्रयोग अन्य चारों वेदों के साथ मिलता है :—

ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरस इतिहासः पुराणम्।

शतपथ ब्राह्मण के प्रथम उद्धरण में इतिहास को भी वेद प्रतिपादित किया गया है। इससे स्पष्ट है कि शतपथ की रचना के समय तक इतिहास (संभवतः इतिवृत्तात्मक आख्यान साहित्य) वैदिक वाङ्मय में कितना सम्मानपूर्ण पद प्राप्त कर चुका था। द्वितीय और तृतीय उद्धरणों में वाङ्मय के महत्त्वपूर्ण अंगों के साथ 'इतिहास' और 'पुराण' का भी उल्लेख उनकी समकक्षता को प्रकट करता है।

ऊपर के कतिपय उद्धरणों से इस बात के स्पष्ट संकेत मिल जाते हैं कि वैदिक संहिताओं के रचनाकाल में 'इतिहास' और 'पुराण' नाम से व्यवहृत वाङ्मय की एक शाखा थी जिसको महत्व की दृष्टि से वैदिक संहिताओं के समान ही पद और गौरव दिया गया था। इससे पुराण साहित्य की समृद्धि का अनुमान किया जा सकता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेद रचना युग में दो प्रकार का साहित्य उपलब्ध था। एक प्रकार का तो वह साहित्य था जिसका सृजन उच्चस्तर के कवि अथवा ऋषियों द्वारा किया गया था।

और दूसरी प्रकार का वह साहित्य था जिसका निर्माण जनकवियों एवं साहित्यिकों द्वारा हो रहा था ; क्योंकि यह विश्वसनीय प्रतीत नहीं होता कि एक ओर तो वैदिक ऋषि वेदसूक्तों की रचना कर रहे हों और दूसरी ओर समाज के विविध क्षेत्रों के विशिष्ट व्यक्ति एवं जनकवि मौन साधे बैठे रहे हों। अवश्य ही जनकवियों ने जनभाषा में गद्य और पद्य दोनों में राष्ट्रीय वीर पुरुषों का चरित्र गाया होगा। प्राचीनतम युग में लोक-नायकों द्वारा गाये गये अथवा वर्णन किये गये चरित्रों का कुछ रूप हमें वैदिक साहित्य में भी देखने को मिल जाता है। शुनःशेप ऋषि आदि के आख्यान इसी श्रेणी में आते हैं। परन्तु इस प्रकार के आख्यानों का अधिक निखरा हुआ रूप हमे पुराणों, महाभारत एवं रामायण में मिलता है।

सम्भव है 'इतिहास' और 'पुराण' के नाम से प्रसिद्ध संहिताओ में वैदिक युग और उससे भी प्राचीन युग के आख्यान संकलित किये गये हों। यह भी सम्भव है कि उस युग में ऐतिहासिक युग के इतिहास से सम्बद्ध कथाओं के संग्रहों को 'इतिहास' नाम से निर्दिष्ट किया गया हो तथा प्रागैतिहासिक युग की कथाओं को उस युग में प्राचीन होने के कारण 'पुराण' कहा गया हो और बाद को समय की धूलि ने दोनों की भेदक रेखा को पाट दिया हो। यह भी सम्भव है कि सृष्टि की उत्पत्ति आदि से सम्बद्ध कथाओं तथा मानवीकृत भौतिक तत्वों से सम्बद्ध कथाओं को जिनका सकलन 'कथाकोविदग्रामवद्धों' के मुख से सुनकर अथवा लोकसाहित्य की परम्परा से किया गया हो—'पुराण' नाम दिया गया हो।

प्रसिद्ध वेद भाष्यकार आचार्य सायण ने अपने वेदभाष्यों मे जहां कहीं किसी मन्त्र मे किसी कथा का उल्लेख किया है वहां, 'अत्रेदमभीतिहासमाचक्षते' ऐसा कहकर किया है। सायणाचार्य के इस प्रकार के कथन से यह बात तो स्पष्ट हो जाती है कि सायण के समय तक व्यक्ति सम्बन्धी चरित अथवा आख्यानों को 'इतिहास' कहने की परिपाटी चली आ रही थी। अतः सायण के समय से पूर्व के वैदिक साहित्य में इतिहास शब्द का प्रयोग चरित कथाओं के लिये किया गया है। सम्भवतः वेद-संहिताओं की रचना के युग से भी पूर्व के लोक-साहित्य में कथाओं की धारा अविच्छिन्न गति से बहती रही है। संहिताओं के मन्त्रों की रचना के अति दीर्घ काल के बाद जब मन्त्रों के अर्थ रचनाकाल की वास्तविक परिस्थितियों के ज्ञान के अभाव में दुर्बोध हो गये, उस समय लोकसाहित्य की परम्परा में सुरक्षित उस युग की चरितकथाओं की सहायता से उन्हें सुबोध एवं स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

निरुक्त (२, १६) में आचार्य यास्क ने उन लोगों को ऐतिहासिक कहा है जो वेद-संहिताओ मे चरिताख्यानों को स्वीकार करते थे और सम्बद्ध आख्यान की सहायता से ही मन्त्रों की व्याख्या के पक्षपाती थे। उदाहरण के लिए, ये लोग वृत्र को असुर मान कर ही सम्बद्ध मन्त्रो की व्याख्या करते थे, और इसके विपरीत नैरुक्त परम्परा के लोग वृत्र को मेघ मानते थे। इससे यह स्पष्ट है कि आचार्य यास्क के समय तक वेदों की व्याख्या के सम्बन्ध में दो भिन्न दृष्टिकोण वाले दो प्रमुख वर्ग बन चुके थे। अतः यह स्पष्ट है कि 'इतिहास' और 'पुराण' की परम्परा भारतीय वैदिक वाङ्मय में अति प्राचीन युग से चली आ रही है।

साख री कविता

डॉ० जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव

'साख री कविता' का शाब्दिक अर्थ है साक्ष्य की कविता अर्थात् साक्ष्य संबंधी कविता। राजस्थान में लिखे गये प्राचीन साहित्य के अंतर्गत इस प्रकार की कविताओं का पाया जाना विशेषतया डिंगल भाषा की एक निजी विशिष्टता है। इस प्रकार की रचनायें किसी उल्लेखनीय महत्वपूर्ण कार्य के संपादित होने पर किसी कवि द्वारा लिखी जाती थीं। सेना का कूच करना, आक्रमण, युद्ध, वीरता, जय, पराजय, वीरगति प्राप्त करना, सती होना, लाख या कोड़ पसाव दान देना, विशेष सम्मान या उपाधि प्राप्त करना, महत्त्वपूर्ण यात्रा, धार्मिक कार्य, नवीन नगर की स्थापना आदि जैसे विशेष अवसरों पर कविगण इस प्रकार की स्फुट रचनायें किया करते थे जिनका उद्देश्य तत्संबंधी घटना को चिरस्मरणीय बनाना होता था। कालांतर में इन कविताओं के माध्यम से वे घटनायें ऐतिहासिक महत्त्व की हो सकती थीं और ये कवितायें उन घटनाओं के प्रमाण के रूप में विशेष उपयोगी हो सकती थीं। वस्तुतः इसी कारण ऐसी रचनाओं को 'साख री कविता' नाम प्रदान किया गया था। साख री कविताओं के महत्व को स्पष्ट करने के लिये एक उदाहरण प्रस्तुत करना अवांछनीय न होगा।

दयालदास री ख्यात[1] में राव जैतसी द्वारा कामरां के पराजित होने का उल्लेख निम्नलिखित 'साख रौ कवित्त' में किया गया है:—

जैत राव जंगळरौ[2]
ताव[3] पड़ियौ तुरकांरौ।
गढ़ तज गुंभाहरौ[4],
तामत कैत्र सकतरौ॥
दरसण सैं देवरौ[5]
मात बायक[6] श्रीमुखरौ।
कर दोवौ[7] निसंकरौ,
चक्र वहसी चारणरौ॥
असुराण[8] सीस पड़ आकरौ[9],
निस लसकर नव लाखरौ।

---

१. दयालदास री ख्यात, भाग २, पृष्ठ ५३-५५। २. जंगली प्रदेश। ३. आपत्ति। . करणी देवी का स्थान। ५. देवी (करणी जी) के। ६. वाणी, कथन। ७. अभियान, ाक्रमण। ८. मुसलमान। ९. प्रबलतापूर्वक।

विलागौ बोम बीकमपुरौ
करनी भागै कमरौ ..

कांटा करना देवरा, कांटा ऊपर वट।
राव हकारै जैतसी, भागा काबलथट[२]।।

सिंदायच दयालदास ने इस घटना की तिथि "संवत् १५९५ आसोज सुद ६" लिखा है। राव जैतसी के समकालीन अन्य दो कवियो ने भी इस घटना को लेकर 'छंद राव जैतसी' नामक ग्रथ लिखे हैं। एक के रचयिता का नाम वीठू सूजा है और दूसरे कवि का नाम ज्ञात नहीं है। एक ही घटना से संबंधित उल्लेखों का तीन रचनाओं में प्राप्त होना इस बात को सिद्ध करता है कि कामरां जैतसी द्वारा पराजित हुआ था। इस घटना का उल्लेख मुसलमान इतिहास लेखको ने नही किया है जिसका कारण सुव्यक्त है। मुसलमान इतिहासकार अपने जाति के बादशाह के पराभव को प्रकाशित करने में अपमान समझते थे। कहा नहीं जा सकता कि इस प्रकार की कितनी घटनाओं को मुसलमान इतिहासकारों ने दबा दिया होगा जिनपर कि समय के धूलि की मोटी तह जम गई होगी। लेकिन राजस्थान के एक अधिनायक की यह गौरव-गाथा आज भी सुरक्षित रह सकी। इटली के सुप्रसिद्ध विद्वान् डॉ० एल० पी० टेसीटेरी ने भी इस घटना की सत्यता को स्वीकार किया है।[३]

साखरी कवितायें विविध प्रकार के छंदों में लिखी गई मिलती हैं जैसे गीत, दोहा या दूहा, कवित्त और निसाणी आदि। इनमें भी प्रमुखता गीतों की है। डिंगल के गीतों की एक अपनी परपरागत विशेषता रही है जो अन्यान्य भाषासाहित्यों में अलभ्य है। गीत डिंगल का एक पारिभाषिक शब्द सा है। गीत से गेयता से कोई विशेष सबंध नहीं है। प्रायोगिक दृष्टि से गीत शब्द डिंगल के पिंगल की मौलिकता का अभिव्यंजक कहा जा सकता है। गीत शब्द के प्रयोग के इस स्पष्टीकरण के अनंतर कदाचित् कहने की आवश्यकता नहीं कि इन गीतों के रचयिता गायक नही होते थे जैसा कि गीत रचयिता कहने से भ्रम होने की संभावना है। इस संबंध में यह भी स्मरणीय है कि इन गीतों के कर्त्ता—विशेष रूप से चारण वर्ग के कवि तो गायक शब्द द्वारा संबोधित किया जाना अपमानजनक समझते थे। इन गीतों के पढ़ने का ढंग कुछ अद्भुत होता था। इन गीतो को recite किया जाता था—एक विशेष लय से पढ़ा जाता था जिसकी नादात्मकता आकर्षक और हृदयग्राही होने के अतिरिक्त सद्यः प्रभावोत्पादन की क्षमता से संपन्न होती थी। एक बार बीकानेर-नरेश महाराज रायसिंह, जेसलमेर के रावल हरराज की पुत्री गंगाजी का पाणि-ग्रहण कर अपने नगर वापस आये। शंकर बारहठ ने उस अवसर पर महाराज की सेवा में एक गीत प्रस्तुत किया। कविता का भाव तो सामान्य ही था किंतु महाराज रायसिंह ने शंकर को एक करोड़ दान देने का आदेश दिया। यह घटना संवत् १६५१ माघ वदी ५ की है। कोषाध्यक्ष करमचद ने दरबार के समय दस हज़ार थैलियाँ उपस्थित कीं और महाराज से उनपर दृष्टिपात करने को कहा। रायसिंह करमचंद का आशय समझ गये और उसे देखने के बाद उन्होंने कहा, "करमचद,

१ छमा। २ कामरां की सेना ३ छद राव जैतसी रौ की भूमिका, पृ० १२-१३

यह तो अत्यल्प है। मैं तो समझा था कि करोड बहुत होता हैं जब करमचन्द से कोई उत्तर न देते बना तो महाराज रायसिंह ने शंकर बारहठ से कहा कि वह सवा करोड़ दान ग्रहण कर इस प्रकार उसे नागोर की पचीस लाख की जागीर और प्रदान की गई। रायसिंह की दानशीलता की इस घटना का उल्लेख दुरसा आढ़ा ने नीचे प्रस्तुत किये गये गीत में किया था —

(१)

सबदी लग कोड़ अजाद रायसिंध ।
गहवंत रैणायर[1] पड-गात ।।
ऊपर लहर सवाई अपतै ।
विलतै छातरिया अन-छात[3] ।।

(२)

कीध जिकौ तैं दीध कलावत ।
ऐही मौज लहर अनमंध[2] ।।
जस उर धकै[4] आवतां जातां ।
बूड अनेरा[5] मुकुट - बंध ।।

(३)

सव लाखां उपर नवसहस ।
लाख पचीसूं दीध हिलोळ[6] ।।
खित पुड़ घणा गडौथक खावै ।
बूडै छात बिया[7] जस बोळ ।।

(४)

पैं उलट्यै सामंद वीकपुर ।
छात बियो वहग्यां गह छंड ।।
मेघाडमर मुकुट सिर मंडै ।
रीझ[8] धकै न सकै पग मंड ।।

महाराज रायसिंह एक महान् दानवीर थे। राजस्थान के इतिहास से परिचित विद्यार्थी इस तथ्य को भलीभाँति जानते हैं। सं० १६४५ वि० में जोधपुर का अधिकार प्राप्त करने पर उन्होंने पांच सौ से अधिक गांव, दो सहस्र हाथी, पचास हजार घोड़े, सौ लाख पसाव और तीन करोड़ पसाव दान दिया था[9]।

वीरता से ओत-प्रोत साखरी कवितायें डिंगल साहित्य में बहुतायत से प्राप्त होती हैं।

---

१. रत्नाकर। २. अन्य राजा। ३. अपार। ४. धक्के से। ५. अन्य नरेश। ६. लहर। ७. दूसरा। ८. दान देना। ९. दयालदास री ख्यात पृ० ११८ देखिये

इस प्रकार की कविताओं में वीरों को प्ररणा और प्रोत्साहन प्रदान करने की स्फूर्तिदायिनी शक्ति होती थी। इस प्रकार की रचनाओं के श्रवण मात्र से वीर हृदयों में अपूर्व पुरुषार्थ जागरित हो जाता था। वे हँसते-हँसते रण-प्रांगण में प्राणों की आहुति देने को कटिबद्ध हो जाते थे। कदाचित् कहने की अपेक्षा नहीं कि महाराणा प्रताप सिंह अपने ढंग के अनुपम वीर और स्वतंत्रता प्रेमी थे। कहा जाता है कि वह अकबर को सदैव 'तुरक' शब्द से संबोधित करते थे। एकबार अकबर ने महाराज रायसिंह के कनिष्ठ भ्राता पृथ्वीराज से, जो कि उनके दरबार में रहते थे, कहा कि महाराणा प्रताप उन्हें बादशाह कहने लगे हैं। पृथ्वीराज ने तुरंत जवाब दिया कि यह बात झूठी है। अकबर के अनुरोध पर पृथ्वीराज ने उस कथन की सत्यता की जानकारी के लिये दो दोहे महाराणा के पास लिख भेजे —

पातल जो पतसाहि, बोलै मुख हूंता बयण।
मिहर पछम दिस मांह, ऊगै कासप राववत ॥१॥
पटकूं मूछा पाण, कै पटकूं निज तन करद।
दीजै लिख दीवाण, इण दो महली बात इक ॥२॥

अर्थात् महाराणा प्रताप सिंह का अपने मुख से अकबर को बादशाह कहना उसी प्रकार है जैसे महाराज कश्यप के पुत्र सूर्य का पश्चिम दिशा में उदित होना। अतएव, महाराणा आप यह लिख भेजिए कि पृथ्वीराज अपनी मूछों पर ताव दें अथवा शरीर पर तलवार का प्रहार करें।

आन पर मर मिटने वाले महाराणा प्रताप को अपने प्रशंसक की इस ओजस्विनी वाणी से कितना बल मिला होगा, इसकी अनुभूति कर सकना दुष्कर है किंतु उनकी भावनाओं का अनुमान उनके उत्तर से संभवतः किया जा सकता है —

तुरक कहासी मुख पती, इन तनसूं इकलिंग।
ऊगै जांही ऊगसी, प्राची बीच पतग ॥१॥
खुसी हूंत पीथल कमध, पटको मूंछां पाण[1]।
पछटण है जेतौ पतौ, कलमा सिर केवाज ॥२॥
सांग मूंड सहसी सको, सम जस जहर सवाद।
मइ पीथल जीतो भलां, बैण तुरकसूं बाद ॥३॥

अर्थात् एकलिंग भगवान् की सौगंध है कि इस शरीर से प्राण रहते अकबर 'तुरक' ही कहा जायगा बादशाह नहीं। सूर्योदय पूर्व से ही होगा। वीर पृथ्वीराज राठौड़, आप निश्शंक होकर अपनी प्रतिष्ठा बनाये रक्खें और प्रसन्नतापूर्वक अपने मूछों पर ताव दें तथा जब तक प्रताप

---

१. मेवाड़ के राजपूतों के प्रधान उपास्यदेव। इनका मंदिर उदयपुर से ८ मील उत्तर दिशा में एक पर्वतीय प्रदेश में स्थित है। यह अत्यंत रमणीक स्थान है। इसके निकट अनेक छोटे-छोटे जल-प्रपात हैं। लिंग के सामने नांदी की मूर्त्ति है। एकलिंग भगवान के मंदिर के प्रांगण के चारों ओर • देवताओं के भी मंदिर हैं यह मंदिर अत्यत प्राचीन है

जीवित है, यवनों के शिर पर खड्ग की स्थिति समझें। प्रताप शिर पर भाले का प्रहार सहन करेगा क्योंकि बराबर वाले व्यक्ति का सम्मान विष के समान होता है। वीर पृथ्वीराज, आप वाणी के वादविवाद में तुरक पर विजय प्राप्त करें।

डिंगल साहित्य का वास्तविक परिचय वीररसात्मक कविताओं द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। वीररसात्मक कविता लिखने वालों ने जनता को उत्साहित करने की दृष्टि से जो रचनायें कीं वे प्रभावात्मकता की दृष्टि से बेजोड़ हैं। बानगी के रूप में पृथ्वीराज राठौड़ का ही एक गीत प्रस्तुत किया जाता है:—

नर तेथ[1] निमाणा[2] निलजी नारी,
अकबर गाहक वट[3] अवट ॥
चोहटै तिण जायर चीतोडो,
वेचै किम रजपूत वट ॥१॥
रोजायतां[4] तणै[5] नवरोजै,
जेथ मुसाणा[6] जणो जण ॥
हींदू नाथ दिलीचै हाटै,
पतो न परचै पजीपणा ॥२॥
परपँच लाज दीठ नह व्यापण,
षोटो लाभ अलाभ षरो ॥
रज बेचबा न आवै राणो,
हाटे मीर[7] हमी - हरो[8] ॥३॥
पेषे आपतणा पुरसोतम,
रह अणियालतणौ बलराण ॥
षत्र बेचिया अनेक[9] षत्रियां,
षत्रवट थिर राखी पूमाण ॥४॥
जासी हाट बात रहसी जग,
अकबर ठग जासी एकार ॥
रह राषियो षत्री ध्रम राणै,
सारा ले बरतो संसार[10] ॥५॥

सम्राट् अकबर नौरोज का त्योहार मनाया करता था। इस त्योहार में प्रतिवर्ष देश के कोने-कोने से चुनी हुई सुंदरियां लाई जाती थीं तथा अकबर स्वयं उन सुंदरियों को पसंद करता और खरीदता था। अनेक हिंदू नरेशों ने भी अकबर के साथ अपनी बहन-बेटियों के विवाह किये

---

१. जहाँ। २. मानरहित। ३. भाग। ४. मुसलमान। ५. के। ६. लुट गया। ७. शाही। ८. हम्मीर का पौत्र ९. भाला। १०. महाराणा यश प्रकाश, पृ० ९४-९५; संग्रहकर्ता—ठाकुर भूरसिंह शेखावत।

थे। यह बातें ऐतिहासिक है। इनकी ओर संकेत करने हुये, महाराणा प्रताप सिंह का ज्वलत उदाहरण प्रस्तुत कर पृथ्वीराज ने इस गीत में समग्र क्षत्रिय जाति को उस आदर्श का अनुकरण करने के लिये उत्तेजित किया है।

डिंगल की वीररसात्मक कवितायें वस्तुतः एक स्वतंत्र निबंध का विषय हैं जिनपर कि लेखक फिर कभी प्रकाश डालना चाहेगा।

स्थूल रूप से साखरी कविताओं को दो प्रधान भागों में विभाजित करके रक्खा जा सकता है—

(क) ऐतिहासिक महत्त्व की साखरी कवितायें

(ख) साहित्यिक महत्त्व की साखरी कवितायें

ऐतिहासिक महत्व की कविताओं द्वारा राजस्थान के राजाओं तथा अन्य अनेक विशिष्ट व्यक्तियों के संबंध मे बहुत-सी जानकारी प्राप्त होती है जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है। इस प्रकार की ऐतिहासिक सामग्री द्वारा अनेक नवीन इतिहास संबंधी सत्यों के उद्घाटन की सभावना है। राजस्थान के ख्याल-साहित्य का अध्ययन वास्तव में ऐतिहासिक दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। विशेषरूप से इतिहास के विद्वानो को इस ओर ध्यान देना चाहिए। कारण, राजस्थानी ख्यात-साहित्य में उपलब्ध ऐतिहासिक सामग्री का समुचित रूप से उपयोग नहीं किया गया है। ख्यातों में जो साख री कवितायें हैं, उनका महत्व ऐतिहासिक दृष्टि से अत्यधिक है। उदाहरणार्थ, दयालदास ने अपने ख्यात ग्रंथ को लिखने में साखरी कविताओं का सहारा विशेष रूप से लिया है। दयालदास री ख्यात के द्वितीय भाग में बीकानेर का सर्वांगीण इतिहास प्रस्तुत किया गया है तथा प्रत्येक राजा के समकालीन कवि द्वारा रचित साख री कविता के माध्यम से विभिन्न ऐतिहासिक घटना के सत्य को पुष्ट किया गया है। इस प्रकार की साखरी कविताओं में यह ध्यान रखना चाहिये कि यदि कवि प्रतिभा संपन्न रहा है तो उसने ऐतिहासिक महत्व की साखरी कविता को साहित्यिकता से संयुक्त कर मणि-काचन सयोग भी उपस्थित किया है।

पदमसिंघ (पद्म सिंह) [समय सन् १६४५-८३ ई०] बीकानेर के महाराज करणसिंह के अनुज थे। वह अत्यंत साहसी, बलवान् और पराक्रमी वीर थे। उनकी मृत्यु रणभूमि मे ही हुई थी। जब वह युद्ध क्षेत्र में बुरी तरह से घायल होकर पड़े हुये थे, उस समय मराठा सेनानायक जादूराय ने अवसर पाकर अपने भाई सांवत राय का वैर चुकाने के लिये पदमसिंह पर प्रहार किया। सावत राय की मृत्यु पदमसिंह के हाथों से हुई थी। जादूराय के प्रहार से पदमसिंह की तन्द्रा टूटी। वह मरते हुए घायल हाथी की भांति उछल कर खड़े हो गये। झपट कर उन्होंने जादूराय को पकड़ लिया। उसे घसीटकर उसके घोड़े से अलग किया और जमीन पर पटक दिया। वह उसके सीने पर सवार हो गये तथा सीने में खंजर के तीन वार किये। तीसरे वार के साथ ही उनके भी प्राण पखेरू उड़ गये। इस वास्तविक घटना का यथातथ्य स्वाभाविक और चित्रमय वर्णन नीचे उद्धृत गीत में देखा जा सकता है। वीररस से पुष्ट रौद्र रस के अनुभावों और सचारियों आदि का कुशलतापूर्वक प्रयोग तथा आलंकारिक चमत्कार का सहज उपयोग विशेषतया ध्यान देने याग्य है

(१)

धावा बहु खल पड़्यौ न्रप घूमत ।
बुध हीणै कीवी सिरवाह ॥
जठै पदम गिरलै जादम नै ।
गोडां तळ दीनौ गजगाह ॥

(२)

मन थारौ मुणजै मुरधरिया ।
खुस रीझां देवण दध खीर ॥
आयैं काम पदम आंटीलै ।
मार लियौ टीकायत मीर ॥

(३)

कर जुध धरा रह्यौ करनाणी ।
बदखोरो आयौ चढ़ बाट ॥
घोड़ैं हुंत लियौ झल घांटौ ।
देखत पार करी जमदाड़ ॥

(४)

मैंगळ तणी समापण मौजां ॥
सकवां रयौ नहीं संसार ॥
अपसर अर जादू रै अंग में ।
कर जुत मांही रयौ कटार ॥

(५)

झुरसी निरखन खवल हजारां ।
रीझां दियण सिरै दीय राह ॥
पड़तै पदम कमंध पटोधर ।
पाड़ लियौ दिखण्यां पतसाह ॥[1]

इस गीत के संबंध में कदाचित् यह उल्लेख करने की आवश्यकता नहीं कि इसमें जो कुछ भी साहित्यिक उत्कृष्टता है, वह मुख्यतया वर्ण्य-विषय के यथार्थ चित्रण के कारण है। कवि को, जिसका नाम ज्ञात नहीं हो सका है, काव्यशास्त्रीय गुणों को आरोपित करने के लिये विशेष प्रयास नहीं करना पड़ा, वरन् वह विशेषतायें विषयगत भव्यता से उत्पन्न होकर स्वतः आ गई हैं। इसके विपरीत ऐसे भी उदाहरण मिलते हैं जो कि कल्पना के विलक्षण भावों से अनुरंजित है

१. गीत मंजरी, पृ० ८३- अनूप संस्कृत पुस्तकालय बीकानेर संवत २००१ संस्करण।

किंतु उनमें भाव गाभीर्य नगण्य है एसी रचनाओं मे मम स्पश की क्षमता का नितात अभाव सा दिखाई देता है। कलात्मकता की दृष्टि से उनमें जो भाव-श्रेष्ठता है वह तो निस्संदेह श्लाघनीय कही जा सकती है किंतु साहित्य के मर्मज्ञ को जो वस्तु किसी रचना को बार-बार पढ़ने के लिये प्रेरित करती है, उस प्राणमय तत्व का ऐसी रचनाओं में नामोनिशान भी नहीं मिलता। नीचे प्रस्तुत अवतरण में महाराणा राजसिंह (बड़े) के दिल्ली पर आक्रमण करने का वर्णन काव्य-कला और ऊहात्मक संपन्नता की दृष्टियों से द्रष्टव्य है :—

(१)

दिली ऊपरां राजसी राण चढियौ ज दन,
नयर धक मालपुर लंक नांई।
धुंवा सूं हुवौ इंदलोक सहु धूंधळौ,
तप गयो ठेठ अहराव तांई ॥

(२)

सुतन जगतेस दळ कीध आरंभ इसा,
असुर चा प्राजळै सहर अघळा।
पुरंदर-मंदरा बीच काजळ पडै,
सहस फण तवा सिर जळै सघळा ॥

(३)

हींदवां घात अखियात वातां हुई,
सुज हुवै जैण सापी अरक सोम।
धार-धर नयण अकळावियौ धुवांसूं,
धराधर कमळ अकळावियो धोम ॥

(४)

आकुळत व्याकुळत चलत नह आंधणैं,
पीव किम भांत आराम पामै।
सुकरदे सकरचा नैण मूंदै सची,
नागणी नाग सिर घडा नामै[1] ॥

ऊपर जो विभाजन प्रस्तुत किया गया है उसके संबंध में यह भी ध्यान रखना चाहिए कि दोनों वर्गों में विशुद्ध रूप से कोई सीमा रेखा नहीं बांधी जा सकती। ऐतिहासिक गीत ऐसे भी उपलब्ध होते हैं जिनमें साहित्यिकता का पुट होता है तथा साहित्यिक गीतों में ऐतिहासिकता का मिश्रण भी होता है।

१ भूरसिंह शेखावत सग्रहीत महाराणा पृ० १६४५

डा० एल० टी० टेसीटरी के साखरी कविताओं के संग्रह राजपूताना अत्यधिक है और आज भी उनका अभाव नहीं है निःसंदेह संग्रहों में इन कविताओं की संख्या सहस्रों में थी। इन रचनाओं में साहित्यिकता तो अधिकांशतः पर्याप्त होती ही है इसके अलावा इन साखरी कविताओं का विशेष महत्व इसलिये भी होता है कि उनके द्वारा मध्यकालीन राजपूतजीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है और ये इतिहासकारों के लिए विशेषरूप से सहायक हैं—मुख्यतया वे कवितायें जो समसामयिक कवियों की लिखी होती हैं।[१]

इन कविताओं के रचयिताओं में अधिकांश के नाम ज्ञात नहीं हैं लेकिन जिनके नाम उपलब्ध होते हैं, उनके आधार पर यह निष्कर्ष निकलता है कि इन कविताओं के रचयिता चारणों के अलावा भाट, ढाढी, राजपूत, ब्राह्मण आदि भी थे। चारण साखरी कविता के रचयिताओं में अल्लू जी, आढ़ा दुरसा, शिवदास, सूजा नगराजौत, ईसरदास, माधा झूला, आदि तथा चारणेतर कवियों में हरिदास भाट, कल्याण दास भाट, किशोरदास भाट, खेतसी भाट, ढाढी बादर (या बहादर) ढाढ़ी पेखण, पृथ्वीराज राठौड़, महाराजा मानसिंह, ठाकुरसी और गुर्वमन्द मिश्रण आदि के नाम उदाहरण स्वरूप प्रस्तुत किये जा सकते हैं। काव्यनायकों से संबन्धित अधिकांश रचनायें तो समकालीन कवियों द्वारा निर्मित मिलती है लेकिन ऐसा भी देखने में आता है कि किसी प्राचीन इतिहास प्रसिद्ध नायक को लेकर अर्वाचीन कवि द्वारा उसकी प्रशस्ति में कविता लिखी गई हो।

सारांश यह है कि राजस्थानी (डिंगल) साहित्य में इन साखरी कविताओं का अपना विशिष्ट स्थान है। डिंगल साहित्य के परिज्ञान को पूर्णतया प्रदान करने के निमित्त इन साक्ष्यविषयक कविताओं का अध्ययन अपेक्षित है। राजस्थान में संभवतः जितने प्रसिद्ध राजा, सामंत तथा वीर हुए हैं, प्रायः सभी की स्मृति को सजीव रखने की दृष्टि से समसामयिक और परवर्त्ती कवियों द्वारा एकाध कवितायें अवश्य ही रची रही होंगी। यह भिन्न तथ्य है कि उनमें से बहुत-सी रचनायें काल-संघर्ष में पराजित होकर अलभ्य हो गई हों। इन रचनाओं के माध्यम से डिंगल के कवियों ने सहस्रों ऐसे वीरों का नाम और यश अमर कर दिया है जिनका इतिहास पुस्तकों में उल्लेख तक नहीं मिलता। राजस्थान के कतिपय साहित्य प्रेमियों के प्रयास के परिणामस्वरूप इस प्रकार की कुछ स्फुट रचनायें तो प्रकाश में आ सकी हैं लेकिन आवश्यकता इस बात की है कि इस प्रकार का जो भी साहित्य प्राप्त है, उसे काल कवलित होने के पूर्व प्रकाश में शीघ्रातिशीघ्र लाया जाय। 'साखरी कवितायें' डिंगल साहित्य की अमूल्य निधि तथा, एक अविच्छिन्न और अत्यंत महत्वपूर्ण अंग हैं।

१. डेस्क्रिप्टिव कैटलाग- सेक्शन २, बार्डिक पोएट्री भाग १ बी पृ० ३

भारतीय दर्शन और समाज-व्यवस्था

डॉ० सुरेन्द्र मीतल

भारतीय समाज-व्यवस्था दर्शन पर आधारित है। इसलिए धर्म के सभी ग्रन्थों मे इहलौकिक व्यवस्था के साथ-साथ पारलौकिक उन्नति का, ब्रह्म का, ब्रह्म-जीव एकता का वर्णन है। अथर्ववेद को तो ब्रह्मवेद कहा ही गया है[1] परन्तु अध्यात्म का वर्णन अन्य वेदों मे भी उपलब्ध है।[2] वेदों का उद्देश्य ही मोक्ष-प्राप्ति बताया गया है। गरुण पुराण मे परमात्मारूपी वृक्ष का तना वेद तथा उसका फल मोक्ष बताया है और नारदपुराण में कहा है कि परात्पर पुरुष की "समस्त पुराणों और वेदों में स्तुति की गई है।[3]" मनुस्मृति में भी कहा गया है कि "वेदशास्त्र के मर्म को जाननेवाला व्यक्ति अपने-अपने आश्रम में रहता हुआ भी इसी लोक में ब्रह्मत्व प्राप्त कर लेता है।[4]" वेदों के अतिरिक्त प्रत्येक पुराण में भी सभी धर्मों के वर्णन के साथ मोक्षधर्म का भी पूरा वर्णन किया गया है। मनुस्मृति का प्रारम्भ सृष्टि-उत्पत्ति से होता है और मध्य मे सम्पूर्ण धर्मों का वर्णन करते हुए सबके अन्त में मोक्षधर्म का विवेचन किया गया है जिसका अर्थ है कि सम्पूर्ण धर्म अर्थात् समाज-व्यवस्था का उद्देश्य मोक्ष है। हारीतस्मृति के धर्म-विवेचन की भी यही योजना है। याज्ञवल्क्य स्मृति में सभी वर्णों और आश्रमों के धर्म का विवेचन करने के पश्चात् अन्त में अध्यात्म-तत्व का वर्णन किया गया है। इस तथ्य को डॉ० राधाकमल मुकर्जी ने भी स्वीकार किया है। वे कहते हैं 'जीवन की भारतीय योजना में सभी कर्त्तव्यों और उत्तरदायित्वों का निर्धारण अन्ततः दर्शन से ही होता है, जिसमें आत्मा प्रकृति और परमात्मा के सम्बन्धों का विवेचन है।[5]" श्री रंगस्वामी आयंगर का कहना है, कि "भारतीय जीवन में एक अमानवीय स्रोत से समाज-व्यवस्था का सनातन आधार प्राप्त करने का सिद्धान्त है। इस कारण समाज-व्यवस्था दार्शनिक क्षेत्र के अन्तर्गत आ जाती है और दर्शन-शास्त्र सामाजिक विचारक के क्षेत्र के अन्तर्गत....... । दर्शन शास्त्र के लेखक स्मृतियों को अधिकृत मानकर उनके उद्धरण देते है, जबकि धर्मशास्त्र के लेखक मानव सम्बन्धों और कर्तव्यों के आध्यात्मिक आधारों का उल्लेख करते हैं। एक परमात्मवादी पद्धति में नैतिकता और दर्शन को पृथक नहीं किया जा सकता

---

१. गोपथ ब्राह्मण, पृष्ठ १९५, ऋग्वेद के गोमिल गृह्यसूत्र में पृष्ठ १८९; देखिये मेकडोनेल हिस्ट्री आफ़ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १८६।

२ ऋग्वेद १०।१२९; १०।१२१; वाजसनेयी यजुर्वेद ३१।१-१६ आदि।

३. गरुड़ पुराण प्रेतकल्प १।१; नारद पुराण १।१।१।६७।

४. १२।१०२।

५ इण्डियन स्कीम आफ़ लाइफ, पृष्ठ ३३

है राधाकृष्णन ने लिखा है हिंदुओं के व्यवहार नियमों में कामनाओं … को अनन्तता की भावना के साथ जोड़ दिया गया है उसने इहलौकिक और पारलौकिक जीवन का साथ बाँध दिया है।[1]"

भारतीय समाज-व्यवस्था दर्शन पर आधारित है, इसका यह अर्थ नहीं कि वह केवल एक आदर्श की ही वस्तु रही है और उसका व्यावहारिक उपयोग नहीं रहा। धर्मशास्त्रों ने अपनी प्रत्येक व्यवस्था के व्यवहार पर पूरा जोर दिया है और उसे पालन करने की आवश्यकता बताई है।[2] धर्मशास्त्रों में श्रेष्ठ आदर्श स्थिति का वर्णन किया गया है, फिर भी व्यवहार की दृष्टि से जो उस आदर्श तक नहीं पहुँच सकते, उनके लिये तदनुकूल व्यवस्था की गई है। इसी कारण चार वर्ण बनाये गये क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति ब्राह्मण के लिये बताई गई श्रेष्ठता को नहीं प्राप्त कर सकता। यद्यपि ब्राह्मणों के लिए परिग्रह अर्थात् दान लेने की निन्दा की गई है फिर भी ब्राह्मणों की जीविका चलती रहे, इसके लिये उनकी वृत्ति के तीन साधनों में दान भी एक साधन है। इस प्रकार आदर्श का ध्यान रखते हुए भी व्यावहारिकता को नष्ट नहीं किया गया है। यथा, यह व्यवस्था रखी गई है कि प्रत्येक अपनी सवर्ण भार्या से ही विवाह करे[4] और प्रतिलोम विवाह की तो बहुत ही निन्दा की गई है।[5] फिर भी प्रतिलोम सम्बन्धों से उत्पन्न जातियों का वर्णन किया गया है और उन्हें समाज में (चाहे छोटा ही क्यों न हो) स्थान दिया गया है।[6] स्त्रियों के पुनर्विवाह का निषेध करने पर भी व्यावहारिक दुर्बलता को स्थान देने के लिये नियोग की अनुमति दी गई है।[7] राधाकृष्णन भारतीय दर्शन पर विचार करते हुए लिखते हैं, "पश्चिम में दर्शन एक ऐसी वस्तु है जो दार्शनिकों के मस्तिष्क तक ही सीमित है। व्यावहारिक जीवन में उसकी कोई उपयोगिता नहीं है। भारत में दर्शन को व्यवहार में लाया गया है"।[8] दर्शन और व्यवहार का भारत में इतना श्रेष्ठ समन्वय है कि एक ओर जहाँ आदर्शवाद अपने चरम रूप में दिखाई देता है दूसरी ओर व्यावहारिकता भी उतनी ही उत्कृष्ट है। जब व्यक्ति के सामने निर्गुण ब्रह्म से एकता प्राप्त करने का लक्ष्य रखा जाता है—उस निर्गुण ब्रह्म से जो कि इन्द्रियों को अग्राह्य है और दृष्ट अनुभव से परे है, अथवा जब सम्पूर्ण विश्व के सभी जड़ और चेतन तत्वों की मूलभूत एकता को सामने रखकर उसके आधार

१. हिन्दू व्यू आफ़ लाइफ़ एकॉर्डिंग टु हिन्दू धर्मशास्त्राज, पृष्ठ २५।

२. हिन्दू व्यू आफ़ लाइफ़, पृष्ठ ७९।

३. उदाहरण के लिए देखिए, मनुस्मृति अध्याय २, ३, ४ के विविध नियम।

४. मनुस्मृति ३।१२; व्यासस्मृति २।२; संवर्त स्मृति ३४; याज्ञवल्क्यस्मृति १।९०; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।६।१३।१।

५. गौतम धर्मसूत्र ४।२०; मनुस्मृति १०।४१।

६. उशनसस्मृति सम्पूर्ण; व्यासस्मृति १।७-११; याज्ञवल्क्यस्मृति १।९१-९६ आदि।

७. गौतम धर्मशास्त्र १८।४-१४; वसिष्ठ धर्मसूत्र १७।५६-६५; मनुस्मृति ९।५७-६३ याज्ञवल्क्यस्मृति १।६८-६९; विष्णु धर्मसूत्र १५।३।

८. इण्डियन फिलोसोफी, भाग १, पृष्ठ १४७।

पर जीवन में व्यवहार करने की बात की जाती है तो यह एक ऐसा आदर्शवाद है जो केवल कल्पना की ही बात प्रतीत होती है। जब सन्यासी और ब्राह्मण के परिपूर्ण त्याग का आदर्श सामने रखा जाता है जिसकी समता आज मिलना बहुत ही दुर्लभ है, तब वह एक कोरा आदर्शवाद (utopia) ही समझा जा सकता है। जब प्रत्येक गृहस्थ के दैनिक जीवन के लिये बहुत कड़ा अनुशासन निर्धारित किया गया है और उसके सम्पूर्ण दिन की बहुत कड़ी दिनचर्या बताई गई है तब यह विचार उठता है कि इस पर कभी व्यवहार भी किया जा सकता है अथवा नहीं। परन्तु दूसरी ओर व्यावहारिकता भी इतनी अधिक है कि मनु का यह कथन कि "न मांस खाने मे दोष है, न मदिरा पीने में, न मैथुन में क्योंकि यह प्राणियों की स्वाभाविक प्रवृत्ति है।"[1] साधारण नैतिकता मे विश्वास करनेवाले व्यक्ति को अखर जाता है। राजधर्म में जब शत्रु के साथ व्यवहार करने के,[2] अथवा राज-पुत्रों को वश में करने के[3] अथवा विभिन्न साधनों से धन प्राप्त करने के[4] नियम बताए गये हैं तब उन नियमों की अनैतिकता देखकर यह स्वाभाविक है कि साधारण व्यक्ति उन नियमो के प्रति हृदय में तुच्छ भावना धारण करे। जब वेश्याओं के विषय में भी स्मृतिकारों ने नियम दिये हैं, तब उन स्मृतिकारों की समाज-व्यवस्था के प्रति निरादर हो जाना बहुत स्वाभाविक है। यह सत्य है कि भारत ने ऐसी समाज-व्यवस्था बनाई जिसके द्वारा धीरे-धीरे एक आदर्श स्थिति तक पहुँचने का प्रयत्न किया जा सके परन्तु यह भी सत्य है कि व्यावहारिक जीवन की सभी कमियाँ और आवश्यकताएँ भी स्वीकार की गई और व्यावहारिक जीवन में परिपूर्णता का निर्माण करते हुए मनुष्य के दार्शनिक लक्ष्य को भी व्यावहारिक स्वरूप देने का प्रयत्न किया गया।

भारत के छः दर्शन परस्पर विरोधी नहीं, समन्वयात्मक हैं। भारतीय 'दर्शन' शब्द 'दृश्' धातु से बना है जिसका अर्थ है देखना, अतः दर्शन वह पद्धति है जिससे सत्य का अथवा ब्रह्म का साक्षात्कार किया जाय। इस दृष्टि से वह अंग्रेजी के Philosophy शब्द का पर्यायवाची नही हो सकता है। मैक्समूलर जैमिनि की पूर्वमीमांसा को पश्चिमी दृष्टि से Philosophy नाम देने में हिचकता है[6] क्योंकि उसमें वेद के कर्मकाण्ड संबंधी मंत्रों के एकीकरण का प्रयत्न है, फिर भी भारतीय दृष्टि से वह दर्शन ही है क्योंकि उसमें कर्मकाण्ड से मनुष्य को ब्रह्म तक पहुँचने का मार्ग दिखाया गया है। इस भेद के कारण जहाँ पश्चिम में दर्शन की विभिन्न पद्धतियाँ परस्पर विरोधी हो सकती हैं, कम से कम सब स्वतंत्र विचारधाराएँ हैं जो लक्ष्य और उसके साधनो के सम्बन्ध में पृथक्-पृथक् धारणाएँ रखती हैं, वहाँ भारत में ऐसा नहीं है। भारत में सभी एक सत्य को देखने के विभिन्न प्रकार मात्र हैं जिनमें मूलतः कोई भेद स्वीकार नहीं किया जाता है। विज्ञान-

---

१. ५।५६।

२. देखिये, शान्तिपर्व; कौटिलीय अर्थशास्त्र, शुक्र नीति में शत्रु के साथ व्यवहार के ढंग तथा चार उपायों में 'दान' और 'भेद' तथा षड्गुणों में 'संश्रय' और 'द्वैधीभाव'।

३. कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१८।

४. शान्तिपर्व, अध्याय ८७।२६-३४, १३०; कौटिलीय अर्थशास्त्र ५।२।

५. मनुस्मृति ४।२०९; २।२५९; याज्ञवल्क्य स्मृति २।२९०; उद्योग पर्व ३०।३८।

६. सिक्स सिस्टम्स आफ़ फ़िलासफ़ी, पृष्ठ १९७।

भिक्षु ने सांख्यसूत्रों की भूमिका में विभिन्न दर्शनों की एकता सिद्ध की है। वह प्रारंभ करता है कि वेद से तीन बातें ज्ञात होती हैं—१. मनुष्य का लक्ष्य, २. उस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिये आवश्यक ज्ञान और ३. आत्मा का स्वरूप। सांख्य का उद्देश्य भी श्रुति के आधार पर समर्थित पुरुष और प्रकृति का भेद सिद्ध करना है। फिर वह कहता है कि न्याय और वैशेषिक का सांख्य से कोई मतभेद नहीं है यद्यपि न्याय और वैशेषिक पुरुष को सगुण प्रतिबिम्बित करते हैं और सांख्य पुरुष को निर्गुण बताता है। सगुण और निर्गुण का भेद केवल इसलिये दिखाई देता है क्योंकि न्याय और वैशेषिक भौतिक आधार को मानकर चलते हैं और सांख्य कुछ ऊंचा तत्वज्ञान प्रदर्शित करता है। वह कहता है कि, क्योंकि न्याय और वैशेषिक (भौतिक होने के कारण) पूर्ण तत्व पर नहीं पहुँच सकते और मनुष्य को सुख और दुख अनुभव करनेवाला बनाते हैं अतः वह ज्ञान के प्रथम पग के समान हैं और वह केवल यही सिद्ध करके शान्त हो जाते हैं कि आत्मा और शरीर एक नहीं, पृथक-पृथक है तथा वे इससे आगे नहीं बढ़ते। यहां पर विज्ञानभिक्षु गीता का उद्धरण देता है "प्रकृति के गुणों से विभ्रमित पुरुष गुणों और कर्मों में ही लगे रहते हैं। ज्ञानी पुरुष इन अज्ञानी और मंदबुद्धियों को अपने मार्ग से विचलित न करें"।[1] और फिर कहता है कि न्याय और वैशेषिक असत्य नहीं, अपितु अपूर्ण सत्य का ही प्रदर्शन करते हैं, जबकि सांख्य उनकी तुलना में अधिक पूर्ण सत्य का दिग्दर्शक है, परन्तु उनका अर्थात् न्याय और वैशेषिक का भी ज्ञान धीरे-धीरे मनुष्य को ऊँचा उठाता है। वह यह भी कहता है कि न्याय और वैशेषिक के सिद्धान्तों को सांख्य समाप्त नहीं करता अपितु वे भिन्न ज्ञान देते हैं और सांख्य का विषय भिन्न है। इसी प्रकार आगे विज्ञानभिक्षु सांख्य का योग और वेदान्त से समन्वय सिद्ध करता है। वह कहता है कि सांख्य अनीश्वरवादी नहीं है वह तो केवल पुरुष और प्रकृति का भेद सिद्ध करने तक ही अपने को सीमित रखता है। इस कारण सांख्य का अपना पृथक क्षेत्र है। सांख्य के अनीश्वरवादी होने का विज्ञानभिक्षु यह भी कारण बताता है कि इसके द्वारा सांख्य ईश्वर का जो सर्वसाधारण द्वारा समझा जाने वाला रूप है—जगत-निर्माणकर्ता का जिससे परमात्मा प्रकृति का ही एक अंग सरीखा बन जाता है—उसको गलत सिद्ध करना चाहता है। सांख्य द्वारा पुरुषों की जो असीम संख्या बताई गई है, उसके विषय में विज्ञानभिक्षु का कहना है कि वेदान्त में तो इन पुरुषों और ब्रह्म की एकता अवश्य सिद्ध की गई है परन्तु पुरुषों की असीम संख्या की अस्वीकृति कहीं नहीं है। इसलिये वेदान्त यद्यपि सर्वोच्च सत्य को सिखाता है परन्तु वह सांख्य के सिद्धान्तों को अमान्य नहीं करता तथा सांख्य के सिद्धान्त अपने पृथक हैं जिनका वेदान्त से कोई मतभेद नहीं है। इस प्रकार विज्ञानभिक्षु सिद्ध करना चाहता है कि इन छः दर्शनों में कोई मतभेद नहीं है अपितु एकता है और वह विभिन्न प्रकार के ज्ञान द्वारा ब्रह्म तक पहुँचने के मार्ग है। अन्तर केवल इतना ही है कि उनके विषय पृथक्-पृथक् हैं तथा कोई ऊँचा ज्ञान देनेवाला है और कोई नीचे स्तर का ही ज्ञान देता है परन्तु हैं सब सत्य और सबकी मिलकर पूर्ण एकता है। मैक्समूलर का इस सम्बन्ध में अपनी भारतीय दर्शन की पुस्तक के अन्त में निष्कर्ष है कि "मैं यह अस्वीकार नहीं कर सकता कि विभिन्न दर्शनों की विभिन्नता के पीछे एक प्रकार की एकता खोजने का जो प्रयास किया गया है वह ठीक है, क्योंकि प्रत्येक (दर्शन)

---

१ ३।२९

सर्वोच्च और अन्तिम सत्य के मार्ग में एक कदम है। इसको जान लेने के बाद यह समझना सरल है कि इन विभिन्न दर्शनों के अनुयायियों ने, जो हमें महत्त्वपूर्ण प्रश्नों पर एक-दूसरे के प्रत्यक्ष विरोधी दिखाई पड़ते हैं, वेद के साथ, जिसका, धार्मिक, दार्शनिक और नैतिक प्रश्नों पर सर्वोच्च अधिकार माना जाता है, किस प्रकार अपनी एकता बनाये रखी।" पृष्ठ २८७ पर वह कहता है, "ऐसा प्रतीत होता है कि भारत में एक दार्शनिक एक साथ ही सांख्य का भी अनुयायी हो सकता था और वेदान्त का भी, यदि वह केवल यही समझ लेता कि यद्यपि दोनों भिन्न मार्ग पर जाते हैं परन्तु उन्होने प्रारम्भ एक ही स्थान से किया है और वह एक ही लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं। यदि इसे ऐतिहासिक भावना से समझ लिया जाय और स्वीकार कर लिया जाय तो इससे कोई हानि नहीं हो सकती।" श्री रंगस्वामी आयंगर ने इस बात के विविध प्रमाण दिये हैं कि भारतीय विचार में परम्परागत रीति से इन दर्शनों की एकता किस प्रकार स्वीकार थी। उन दर्शनों के मतभेद, जो प्राचीन माने जाते है, केवल ऊपरी ही समझे गये हैं तथा उन मतभेदों को उन दर्शनों के उद्देश्यों और सिद्धान्तों की मूलभूत एकता के विपरीत माना जाता है।....... छः दर्शनों में एक हिन्दू आलोचक वह प्रतियोगिता नही देखेगा जो कि एक पश्चिमी विद्यार्थी देखेगा। छः दर्शनों का दो-दो के तीन समूहों में एकत्रीकरण-न्याय और वैशेषिक, सांख्य और योग, पूर्व और उत्तर मीमांसा —इस बात का पहिला दिग्दर्शक है। प्राचीन मत में जिसे रामानुज तथा उसकी शाखा ने व्यक्त किया है, दोनों मीमांसा एक मानी गई है। प्रथमार्द्ध कर्ममार्ग का वर्णन करता है तथा उत्तरार्द्ध सीधा ही ज्ञान मार्ग का वर्णन करता है। प्राचीन विचार में महाभारत के प्रणेता और वेदान्त अथवा ब्रह्म अथवा शारीरक सूत्र के लेखक तथा वह व्यास जिन्होंने योगसूत्र की टीका लिखी है, एक ही माने जाते हैं। यह एक ऐतिहासिक और आलोचक मस्तिष्क को चाहे आघात पहुँचाये, परन्तु यदि इसे विभिन्न प्रतिद्वन्दी दर्शनों की मूलभूत एकता को प्रतिपादन करने के सिद्धान्त के रूप में देखा जाय, तो यह एक व्यावहारिक सिद्धान्त है। जबकि वाचस्पति और विज्ञानभिक्षु—अथवा माधव और वेदान्त देशिक—जैसे विद्वान् और दार्शनिक एक से अधिक दर्शनों पर भाष्य लिखते है और उनका इस प्रकार स्पष्टीकरण करते है, जैसे वह उनके विचारों के अनुयायी हों, तब उसे केवल सर्वविषयक ज्ञान का ही प्रमाण नही मानना चाहिये परन्तु वह विभिन्न दर्शनों के अन्तर्गत रहने वाले समान सत्य की स्वीकृति का सूचक है। इसी (मूलभूत एकता के) सिद्धान्त के आधार पर यह समझा जा सकता है कि मनुस्मृति विश्व के निर्माण का वर्णन सांख्य पद्धति से कर मीमांसा, न्याय और वेदान्त के प्रति समान भक्ति प्रदर्शित करती है: तथा उस वृहत् महाकाव्य महाभारत में सभी दर्शनों के विचार दिये गये है। इसी के कारण मेधातिथि विज्ञानेश्वर, विश्वेश्वर, लक्ष्मीधर जैसे स्मृतियों के टीकाकार और निबन्धकार स्मृतियों के मूलभाग पर विचार करते हुए अथवा उसे स्पष्ट करते हुए सभी शास्त्रों (दर्शनों) के उद्धरण देते हैं।[१]

भारतीय विचार का प्रारम्भ सृष्टि की उत्पत्ति से होता है और यह बताया जाता है कि इस दृश्य सृष्टि की उत्पत्ति के पूर्व केवल एक निर्गुण ब्रह्म था। ऋग्वेद के नारदीय सूक्त में वर्णन है[२]

---

१. हिन्दू व्यू आफ लाइफ एकॉर्डिग टू हिन्दू धर्मशास्त्राज. पृष्ठ २९-३०।

२. १० १२९ १ २।

तब असत नहीं था और सत भी नहीं था, अन्तरिक्ष नहीं था और उसके परे का आकाश भी नही था। किसने आवरण डाला? कहा? किसके सुख के लिये? अगाध और गहन जल भी कहाँ था? तब मृत्यु नहीं थी, अमरता भी नहीं थी। रात्रि और दिन का भेद समझने का कोई साधन नही था। वह अकेला एक ही अपनी शक्ति से बिना वायु के जीवित था। उससे अन्य या परे कुछ भी नहीं था। इस प्रकार यह बताकर कि सभी जीवों की उत्पत्ति ब्रह्म से हुई 'मनुष्य के सामने लक्ष्य भी यही रखा गया है कि वह उसी ब्रह्म में विलीन हो जाय। हे प्रिय! वह सत्य यह है कि जिस प्रकार प्रज्ज्वलित अग्नि में से उसी के रूपवाली सहस्रों चिनगारियां प्रकट होती है उसी प्रकार अविनाशी ब्रह्म से नाना प्रकार के भाव (भावधारी जीव) उत्पन्न होते हैं और उसी मे विलीन हो जाते है।[1]

इस निर्गुण ब्रह्म ने सगुण स्वरूप धारण किया और फिर सृष्टि की उत्पत्ति प्रारम्भ हुई। सगुण स्वरूप को प्रजापति अथवा ब्रह्मा की संज्ञा दी गई है। मनुस्मृति में सृष्टि का प्रारम्भिक वर्णन इस प्रकार है।[2] "यह जगत अन्धकार से व्याप्त, जानने के अयोग्य, चिह्नरहित, तर्क से परे और अविज्ञात अवस्था में सर्वत्र सोते के समान था। तब अव्यक्त और स्वयम्भू भगवान (निर्गुण ब्रह्म) जो सृष्टि की रचना करने में समर्थ हैं, महाभूतों को प्रकाशित करते हुए प्रकट हुए, जो यह परमात्मा इन्द्रियों से ग्रहण करने के परे, सूक्ष्म, अव्यक्त, अचिन्त्य, सर्वभूतमय और सनातन, वह अपने आप प्रकट हुआ। उसने अनेक प्रकार की प्रजा उत्पन्न करने की इच्छा से ध्यान करके अपने शरीर से पहिले जल को उत्पन्न किया और उसमें बीज डाला। वह सूर्य के समान कान्तिमय तथा सुवर्ण मय अण्डा हो गया और उसमें सब लोगों का कर्ता ब्रह्मा स्वयं उत्पन्न हुआ है। भारतीय विचार ने, सृष्टि की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, उसका तो वर्णन किया है, परन्तु उस ब्रह्म ने एक से अनेक होने की इच्छा क्यों की अर्थात् सृष्टि का प्रारम्भ क्यों किया इसका कोई उत्तर नहीं दिया। केवल इतना ही कहा कि यह परमात्मा की अतर्क्य लीला है।[3] हम इस संसार को क्यों न जानते हैं, न जान सकते हैं। हमारे सीमित मस्तिष्क, काल, स्थान और कारण की सीमा के आगे नहीं जा सकते और न हम इनका कोई कारण बता सकते हैं.....दर्शन की इस असफलता पर न तो रोने का कोई कारण है, न हँसने का, न प्रशंसा करने का, न दोष देने का अपितु इसे समझने की आवश्यकता है।" परमात्मा के इन सगुण और निर्गुण रूपों में निर्गुण श्रेष्ठ है और सगुण उसका प्रतिबिम्ब मात्र है। प्रजापति, इन्द्र आदि उस परमात्मा के अंशरूप हैं।[4] निर्गुण में अनन्तत्व है और सगुण उसका प्रकृतिजन्य स्वरूप है अतः काल से मर्यादित है। इन्द्र के विषय में बताया जाता है कि प्रत्येक मन्वन्तर मे वह बदल जाता है तथा ब्रह्मा की आयु भी बड़ी होने पर भी बहुत सीमित ही है।[5] इसलिये निर्गुण की प्राप्ति श्रेष्ठ अवस्था मानी जाती है। सम्पूर्ण उपनिषद् उसी निर्गुण का स्वरूप बतलाकर

---

१. मुण्डकोपनिषद्, २।१।१।

२. १।५-९।

३. प्रश्नोपनिषद् १।४।

४. ऐतरेयोपनिषद् ३।३।

५ देखिये पुराणों में के वर्णन

उसी में विलीन हो जाने को श्रेष्ठ अवस्था बताते हैं? परन्तु जो उस अवस्था तक नहीं पहुँचे है उनके लिये सगुण उपासना का, विभिन्न देवताओं के रूप में वर्णन है। पुराणों में, जो कि विशेष रूप से उन लोगों के लिये है जो अध्यात्म की उच्च अवस्था तक नहीं पहुँच सकते, निर्गुण उपासना का अर्थात् अध्यात्म का वर्णन अवश्य है, परन्तु मूलतया विभिन्न देवताओं के रूपों में सगुण तथा साकार उपासना को ही प्रमुखता दी गई है। इन पुराणों में ही अवतारवाद का इस कारण विशेष उल्लेख है कि साकार रूपों से परमात्मा का अभिव्यक्तिकरण समाज के समक्ष रखकर उसके द्वारा व्यक्ति को धीरे-धीरे परब्रह्म की ओर उन्मुख किया जाय।

सृष्टि की रचना करने के लिये प्रजापति अर्थात ब्रह्मा ने अपने को दो भागों में विभक्त किया। ब्रह्मपुराण में वर्णन है "इस प्रकार प्रजा की सृष्टि करते रहने पर भी जब प्रजा की वृद्धि नहीं हुई तब प्रजापति अपने शरीर के दो भाग करके आधे से पुरुष, आधे से स्त्री हो गये।" बृहदारण्यकोपनिषद् मे भी कथा है[1] "पहिले यह पुरुषाकार आत्मा ही था। उसने आलोचना करने पर अपने से भिन्न और कोई न देखा। . . . . उसने दूसरे की इच्छा की। जिस प्रकार परस्पर आलिंगित स्त्री और पुरुष होते है वैसा ही उसका परिमाण हो गया। उसने अपनी इस देह को ही दो भागो मे विभक्त कर डाला। उससे पति और पत्नी हुए।" यह जो पुरुष और स्त्री दो तत्व है, जिनसे समस्त सृष्टि की उत्पत्ति हुई उन्हें वेदान्त में ब्रह्म और माया तथा सांख्य में पुरुष और प्रकृति, कहा है। ब्रह्म निर्गुण और अकर्ता है अतः बिना माया के वह इस संसार के समस्त जाल को नही फैला सकता तथा प्रकृति भी बिना पुरुष के सम्पूर्ण सृष्टि को उत्पन्न नही कर सकती क्योंकि प्रकृति कर्त्ता होने पर भी जड़ है और पुरुष अकर्ता होने पर भी चेतन है। पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि की उत्पत्ति के क्रम का तथा मोक्ष संबंधी तत्वज्ञान का सांख्य ने वर्णन किया है। सांख्य द्वारा वर्णित क्रम का संक्षिप्त परन्तु श्रेष्ठ वर्णन लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' में किया गया है और उसके यहां उद्धृत करने से विषय स्पष्ट होगा।[2] 'सांख्यशास्त्र' के अनुसार सृष्टि के सब पदार्थों के तीन वर्ग होते है। पहिला अव्यक्त (मूल प्रकृति), दूसरा व्यक्त (प्रकृति के विकार) और तीसरा पुरुष अर्थात ज्ञ। परन्तु इनमें से प्रलयकाल के समय व्यक्त पदार्थों का स्वरूप नष्ट हो जाता है; इसलिये अब मूल मे केवल प्रकृति और पुरुष दो ही तत्व शेष रह जाते हैं। इस प्रकार जब उन लोगों ने दो ही मूल तत्व निश्चित कर लिये तब उन्होंने अपने मत के अनुसार इस बात को भी सिद्ध कर दिया है कि इन दोनों मूल तत्वों से सृष्टि कैसे उत्पन्न हुई। वे कहते हैं कि यद्यपि, निर्गुण पुरुष कुछ भी नहीं कर सकता, तथापि जब प्रकृति के साथ उसका संयोग होता है तब, जिस प्रकार गाय अपने बछड़े के लिये दूध देती है अथवा लोह चुम्बक के पास जाने से लोहे में आकर्षण शक्ति आ जाती है, उसी प्रकार मूल व्यक्त प्रकृति अपने गुणों (सूक्ष्म और स्थूल) का व्यक्त जाला पुरुष के सामने फैलाने लगती है। यद्यपि पुरुष सचेतन और ज्ञाता है तथापि केवल या निर्गुण

---

१. १।४।१-४।

२. पृष्ठ १६२-६४। सांख्य द्वारा सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन के लिए देखिए ऐतरेयोपनिषद् १।१; मनुस्मृति १।१४-२७; महाभारत (शान्तिपर्व अध्याय १८२-८८) तथा पुराणों के विविध स्थानों पर सृष्टि-उत्पत्ति के वर्णन

होने के कारण स्वयं कर्म करने का कोई साधन उसके पास नहीं है और प्रकृति यद्यपि काम करनेवाली, है, तथापि जड़ या अचेतन होने के कारण वह नहीं जानती है कि क्या करना चाहिये। इस प्रकार अन्धे और लँगड़े की वह जोड़ी है, जैसे अन्धे के कंधे पर लँगड़ा बैठे और वे दोनों एक दूसरे की सहायता से मार्ग चलने लगें, वैसे ही अचेतन प्रकृति और सचेतन पुरुष का संयोग हो जाने पर सृष्टि के सब कार्य आरम्भ हो जाते हैं। जिस प्रकार नाटक की रंगभूमि पर प्रेक्षकों के मनोरंजनार्थ एक ही नटी, कभी एक, तो कभी दूसरा ही, स्वांग बनाकर नाचती रहती है उसी प्रकार पुरुष के लाभ के लिये (पुरुषार्थ के लिये), यद्यपि वह कुछ भी पारितोषिक नहीं देता तो भी, यह प्रकृति सत्व, रज, तम गुणों की न्यूनाधिकता से अनेक रूप धारण करके उसके सामने लगातार नाचती रहती है।

"प्रकृति के इस नाच को देखकर, मोह से भूल जाने के कारण या वृथाभिमान के कारण, जब तक पुरुष इस प्रकृति के कर्तृत्व को स्वयं अपना ही कर्तृत्व मानता रहता है और जब तक वह सुख-दुख के जाल में स्वयं अपने को फंसा रखता है, तब तक उसे मोक्ष या मुक्ति की प्राप्ति कभी नही हो सकती। परन्तु जिस समय पुरुष को यह ज्ञान हो जाय कि त्रिगुणात्मक प्रकृति भिन्न है और मैं भिन्न हूँ, उस समय वह मुक्त ही है; क्योंकि यथार्थ में पुरुष न तो कर्ता है और न बंधा ही है। वह तो स्वतन्त्र और निसर्गतः केवल या अकर्ता है। जो कुछ हो जाता है वह सब प्रकृति का ही खेल है। यहां तक कि मन और बुद्धि भी प्रकृति के ही विकार है इसलिये बुद्धि को जो ज्ञान होता है वह भी प्रकृति के कार्यों का ही फल है। यह ज्ञान तीन प्रकार का ही होता है जैसे सात्विक, राजस और तामस। जब बुद्धि को सात्विक ज्ञान प्राप्त होता है तब पुरुष को यह मालूम होने लगता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। सत्व-रज-तमोगुण प्रकृति के ही धर्म हैं, पुरुष के नहीं। पुरुष निर्गुण है और त्रिगुणात्मक प्रकृति उसका दर्पण है। जब यह दर्पण स्वच्छ या निर्मल हो जाता है, अर्थात् जब अपनी यह बुद्धि, जो प्रकृति का विकार है, सात्विक हो जाती है, तब इस निर्मल दर्पण में पुरुष को अपना वास्तविक स्वरूप दीखने लगता है और उसे यह बोध हो जाता है कि मैं प्रकृति से भिन्न हूँ। उस समय यह प्रकृति लज्जित होकर उस पुरुष के सामने नाचना, खेलना या जाल फैलाना बन्द कर देती है। जब यह अवस्था प्राप्त हो जाती है तब पुरुष सब पाशो या जालों से मुक्त होकर अपने स्वाभाविक कैवल्य पद को पहुँच जाता है। 'कैवल्य' शब्द का अर्थ है केवलता, अकेलापन या प्रकृति के साथ संयोग न होना। पुरुष की इस नैसर्गिक या स्वाभाविक स्थिति को ही सांख्यशास्त्र में मोक्ष कहते हैं।"

"जो पुरुष प्रकृति के तीनों गुणो से छूटकर यह ज्ञान प्राप्त नहीं कर लेता, वह जन्म-मरण से छुट्टी नहीं पा सकता; चाहे वह सत्वगुण के उत्कर्ष के कारण देवयोनि में जन्म ले, या रजोगुण के उत्कर्ष के कारण मानव-योनि में जन्म ले, या तमोगुण की प्रबलता के कारण पशु-कोटि में जन्म लेवे। जन्म-मरणरूपी चक्र के ये फल, प्रत्येक मनुष्य को, उसके चारों ओर की प्रकृति, अर्थात् उसकी बुद्धि के सत्व-रज-तम गुणों के उत्कर्ष-अपकर्ष के कारण हुआ करते हैं। गीता में भी कहा है 'ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्वस्था:'[1] सात्विक वृत्ति के पुरुष स्वर्ग को जाते हैं और तामस पुरुषों को अधोगति

१ १४।१८

प्राप्त होती है। परन्तु स्वर्गादि फल अनित्य हैं। जिसे जन्म-मरण से छुट्टी पाना है, या सांख्यों की परिभाषा के अनुसार जिसे प्रकृति से अपनी भिन्नता अर्थात् कैवल्य चिरस्थायी रखना है, उसे त्रिगुणातीत होकर विरक्त (सन्नयस्त) होने के सिवा दूसरा मार्ग नहीं है। कपिलाचार्य को यह वैराग्य और ज्ञान जन्मते ही प्राप्त हुआ था। परन्तु यह स्थिति सब लोगों को जन्म से ही प्राप्त नहीं हो सकती, इसलिये तत्व-विवेक रूप साधन से प्रकृति और पुरुष की भिन्नता को पहिचान कर प्रत्येक पुरुष को अपनी बुद्धि शुद्ध कर लेने का यत्न करना चाहिये। ऐसे प्रयत्नों से जब बुद्धि सात्विक हो जाती है, तो फिर उसमें ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य आदि गुण उत्पन्न हो जाते हैं और मनुष्य को अन्त में कैवल्य पद प्राप्त हो जाता है। जिस वस्तु को पाने की मनुष्य इच्छा करता है उसे प्राप्त कर लेने के योग्य सामर्थ्य को ही यहां ऐश्वर्य कहा गया है। सांख्य मत के अनुसार धर्म की गणना सात्विक गुण में ही की जाती है परन्तु कपिलाचार्य ने अन्त में यह भेद किया है कि केवल धर्म से स्वर्ग-प्राप्त ही होती है और ज्ञान तथा वैराग्य से मोक्ष या कैवल्य पद प्राप्त होता है तथा पुरुषों के दुःखों की आत्यंतिक निवृत्ति हो जाती है। जब देहेन्द्रियों और बुद्धि में पहिले सत्वगुण का उत्कर्ष होता है और जब धीरे-धीरे उन्नति होते-होते अन्त में पुरुष को यह ज्ञान प्राप्त हो जाता है कि मैं त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न हूं, तब उसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्व-रज-तम गुणों से परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्था में सत्व-रज-तम में से कोई भी गुण शेष नहीं रहता। कुछ सूक्ष्म विचार करने से यह मानना पड़ता है कि यह त्रिगुणातीत अवस्था सात्विक, राजस और तामस इन तीनों अवस्थाओं से भिन्न है। इसी अभिप्राय से भागवत में भक्ति के तामस, राजस और सात्विक भेद करने के पश्चात् एक और चौथा भेद किया गया है। तीनों गुणों से पार हो जानेवाला पुरुष निर्हेतुक कहलाता है और अभेद भाव से जो भक्ति की जाती है उसे 'निर्गुण भक्ति' कहते हैं।"[1]

प्रकृति के द्वारा अपना फैलाव फैलाने के बाद जो स्थिति है, उसमें यद्यपि विनाशशील अंश बहुत है, अर्थात् जो प्राकृतिक वस्तुएं हैं वे नित्य विनाशमान और परिवर्तनशील हैं, परन्तु फिर भी उनके अन्दर ब्रह्म का अंश व्याप्त है। ब्रह्म का यह जो व्यक्त स्वरूप है इसी को विराट पुरुष की संज्ञा दी गई है। मनु ने इसका वर्णन किया है।[2] इस विराट का पूर्ण पुरुष सूक्त मे 'पुरुष' के नाम से किया गया है।[3] "सहस्रों मस्तकों से युक्त, सहस्रों आँखों से युक्त, सहस्रों पांववाला पुरुष है। वह भूमि को चारो ओर से घेरकर दश अंगुल में (आत्मा रूप में) अधिष्ठित है।" ब्रह्म से साक्षात्कार का अर्थ इस विराट पुरुष से अपनी एकात्मकता अनुभव करना है और इसके कारण अहिंसा का ही नहीं समस्त प्राणिमात्र के प्रति दया और प्रेम का भाव हृदय में रखकर व्यवहार करना तथा स्वार्थ की नहीं अपितु समाजकल्याण की भावना से काम करना है।

ऊपर के कुछ विवेचनों से प्रकृति और पुरुष का अन्तर तथा सम्बन्ध समझ में आ जाता है। पुरुष और प्रकृति के अन्तर्गत जो भेद और सामानताएँ दिखाई देतीं हैं उन्हीं के आधार पर भारत में स्त्री और पुरुष धर्म पृथक्-पृथक् निर्माण किये गये हैं।

---

१. ३।२९।७-१४।

२. १।३२।

३ १०।९० १

यदि पुरुष को यह ज्ञान हो जाय कि यह सब खेल जो उसके चारों ओर हो रहा है वह केवल दिखावा है माया है वह खेल नष्ट हो जानेवाला है उसमें स्थिरता अथवा सत्य नहीं है और उसे यह समझ में आ जाय कि वह तो इस से अलग है, निर्लिप्त है और निर्गुण ब्रह्म का अर्थात् इस सम्पूर्ण संसार के अन्दर व्याप्त परन्तु अगोचर और स्थिर तत्व का (जिसको सम्पूर्ण सृष्टि को व्याप्त करने के कारण विराट पुरुष नाम दिया गया है) अंग है, अर्थात् जिस समय वह अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान जाय उसी समय वह इस प्रकृति के जंजाल से छूट जायगा अर्थात् मोक्ष प्राप्त कर लेगा। "जब देहेन्द्रियों और बुद्धि में पहिले सत्वगुण का उत्कर्ष होता है और जब धीरे-धीरे उन्नति होते-होते अन्त में पुरुष को यह ज्ञान हो जाता है कि मैं उस त्रिगुणात्मक प्रकृति से भिन्न हूँ, तब उसे सांख्यवादी 'त्रिगुणातीत' अर्थात् सत्व, रज, तम गुणों से परे पहुँचा हुआ कहते हैं। इस त्रिगुणातीत अवस्था में सत्व, रज, तम में से कोई गुण शेष नहीं रहता।" इस उपरोक्त मोक्ष के लक्ष्य पर अपने-अपने विषय-विवेचन द्वारा तथा अपने-अपने मार्ग द्वारा मनुष्य को पहुँचाना सभी दर्शनों का उद्देश्य है। गीतारहस्य के उपरोक्त अवतरण के अन्तिम भाग में वर्णित इस तत्वज्ञान को अध्यात्म के नाम से पुकारा जाता है। इस अध्यात्म का वर्णन भी श्रुति, स्मृति तथा इतिहास-पुराण आदि सभी ग्रन्थों में पाया जाता है परन्तु गीता और उपनिषद् तो इसी अध्यात्मतत्व से ओत-प्रोत हैं।[1] यहां केवल उदाहरण के लिये इसका याज्ञवल्क्यस्मृति में दिया हुआ वर्णन दिया जाता है। अध्यात्म विषय में याज्ञवल्क्य कहते हैं[2] "जिस प्रकार तपाये हुए लोहे से जो छोटे-छोटे कण उड़ते हैं उन्हें स्फुलिंग कहते हैं इसी प्रकार परमात्मा से जीवात्मा उपजते हैं यह बात कही जाती है। फिर वहां धर्म-अधर्म-रूपी काम कुछ तो आत्मा आप ही करता है, कुछ स्वभाव से और कुछ अभ्यास से। यद्यपि आत्मा सब वस्तुओं का निमित्त, विनाशरहित, करनेहारा, ज्ञान, रूप, ब्रह्म, गुणी, वशी और अज अर्थात् अजन्मा है, परन्तु शरीर ग्रहण करने से लोग उसको कहते है कि पैदा हुआ है। जिस प्रकार सृष्टि के आदि में वह आकाश वायु, तेज, जल और पृथ्वी को, जो क्रम से एक-एक गुण अधिक रखते हैं, बनाता है, उसी प्रकार उत्पन्न होकर उन्हें धारण भी करता है।" फिर आत्मा का किस प्रकार से जन्म होता है और वह कैसा शरीर धारण करता है इसका विस्तार से वर्णन करने के पश्चात् तथा यह बताकर कि आत्मा की इस संसार में क्यों उत्पत्ति होती है, वह ईश्वर होने पर भी पाप में किस प्रकार लिप्त होता है, और यह सिद्ध कर कि वास्तव में आत्मा-है—यह कोई भ्रम नहीं है—याज्ञवल्क्य कहते हैं, "वह आत्मा अहंकार आदि से दूषित होकर सब कर्मों के फल हैं अथवा नहीं हैं ऐसा सन्देह बुद्धि में लाता है—अर्थात् उसे विस्मरण हो जाता है कि उसके कर्मों का उसे फल मिलता है—और अपने को कृतार्थ न भी हो तो भी कृतार्थ मानता है। उसको यह ममता होती है कि ये हमारे स्त्री, पुत्र और भृत्य है और मैं इनका हूं तथा हित और अहित कार्यों में सदा विपरीत मति होती है। ज्ञेयज्ञ आत्मा प्रकृति और विकार आदि में विवेकरहित होता है और अनशन, अग्नि और जलमें प्रवेश करना, और ऊंचे स्थल से गिरकर मर जाना आदि

---

१. देखिए मुण्डकोपनिषद् २।१।१, २, १०; छान्दोग्योपनिषद् ८।३,१-३; गीता ५।१४-१९; ७।४-८, १३-१५; श्वेताश्वतर उपनिषद् १।६-८, १०, १२।

२ ३ ६७-७० १५२-५५, १५९

बातों में उद्यम करता है (अर्थात समझता है कि मृत्यु से सब दुखों से मुक्ति मिल जायगी)। इस प्रकार अविनीतात्मा होकर झूठा संकल्प करता हुआ कर्म, राग, द्वेष, मोह और इच्छा से बाधा जाता है।......रजोगुण और तमोगुण का परित्याग, विषयों में अभिलाष न होना और शम (सयम) रखना, इन सब उपायों से शुद्ध होकर ब्रह्म की उपासना करे तो मुक्त होता है।" अध्यात्मतत्व का जो यहा वर्णन दिया गया है उसके अनुसार सभी धर्मशास्त्र मोक्ष को ही मनुष्य का अन्तिम लक्ष्य मानकर चलते है और इसके आधार पर ही सम्पूर्ण समाज-व्यवस्था का निर्माण करते हैं।

एक बात और यहां प्रसंगवश उल्लेख करना आवश्यक है। वह है भारतीय विचार मे मोक्ष और स्वर्ग का भेद तथा जिसके अनुसार बहुत कुछ अंशों में संन्यास-धर्म और गृहस्थ-धर्म की व्यवस्था की गई है। मोक्ष-प्राप्ति के लिये यह आवश्यक है कि व्यक्ति पूर्णतया निर्लिप्त हो जाय। धर्मकृत्य करते रहना ही केवल मोक्ष-प्राप्ति के लिये पर्याप्त नहीं है। धर्मकृत्य करते रहने से तो केवल व्यक्ति सतोगुणी होता है और यद्यपि उसके कारण मोक्ष-प्राप्ति की ओर बढ़ना सभव हो जाता है परन्तु जैसा लोकमान्य तिलक के 'गीतारहस्य' के उद्धरण में ऊपर बताया है मोक्ष-प्राप्ति के लिये केवल सतोगुणी होने मे काम नहीं चलता, उसके लिये तो व्यक्ति को गुणातीत अवस्था पर पहुँचना चाहिये। अर्थात यदि सकाम कर्म किये तो स्वर्ग ही प्राप्त होगा परन्तु निष्काम कर्म करने से मोक्ष मिलता है। मनु का कहना है[1] "वैदिक कर्म दो प्रकार के हैं—प्रवृत्तिपरक और निवृत्तिपरक। प्रवृत्ति कर्म से आभ्युदयिक सुख प्राप्त होता है और निवृत्तिकर्म, निःश्रेयस प्रदान करनेवाले हैं। इस लोक तथा परलोक में किसी कामना से जो कर्म किया जाता है उसे प्रवृत्त कहते है, परन्तु जो ज्ञानपूर्वक निष्काम कर्म किया जाता है उसे निवृत्त कर्म कहते हैं। प्रवृत्त कर्म करने से मनुष्य को देवताओं की समानता प्राप्त हो सकती है—अर्थात् स्वर्ग मिल सकता है—तथा निवृत्त कर्म करने से (मनुष्य) पंचमहाभूतों का अवलंघन करता है अर्थात् मोक्ष पाता है। छान्दोग्योपनिषद् में देवयान और पित्रयान दो मार्गो का वर्णन है जिनमें से एक मार्ग से जानेवाले अर्थात् "वे जो वन में श्रद्धा और तप से इनकी उपासना करते हैं संसार में कभी नहीं लौटते और ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं" तथा दूसरे मार्ग से जानेवाले अर्थात् "जो ये गृहस्थ लोग इष्ट, पूर्त और दत्त, ऐसी उपासना करते हैं" वे "वहां कर्मों के क्षय होने तक रहकर फिर इसी मार्ग से जिस प्रकार गये थे उसी प्रकार लौटते है।"[2] जो यज्ञ है अर्थात् कर्मकाण्ड है जिसे संक्षिप्त में कर्म भी कहा है, स्वर्ग देनेवाला है[3] और योग तथा तप मोक्षदायक हैं इसलिये यज्ञ से तप श्रेष्ठ बताया गया है[4] और इसी कारण संन्यासी का स्थान और महत्त्व सबसे ऊँचा है।

अध्यात्म का जो ज्ञान ऊपर वर्णन किया गया है उसका नाम उपनिषदों द्वारा 'विद्या' दिया

---

१. १२।८८-९१।

२. ५।१०।

३. मुण्डकोपनिषद् १।२।७।

४. वायुपुराण, ९१वां अध्याय; मत्स्यपुराण १४३वां अध्याय; छान्दोग्योपनिषद् ५ १० १ २ मुण्डकोपनिषद १ १ १० ११।

गया है तथा इसी विद्या की अन्तरतम अनुभूति का भगवद्गीता ने ज्ञान कहा है केनोपनिषद् का वाक्य[1] है कि विद्या से अमृत प्राप्त होता है विद्या शब्द को इसी अर्थ में प्रयोग करता है तथा मुण्डकोपनिषद् में भी जब कहा है[2] "अविद्या के भीतर स्थित होकर अपने आप को विद्वान् और बुद्धिमान् माननेवाले मूर्ख लोग बार-बार आघात सहन करते हुए भटकते रहते हैं, जैसे अन्धे के द्वारा चलाये जानेवाले अन्धे" तब यहां भी 'विद्या' का यही अर्थ है। इसी प्रकार अन्य स्थानों पर भी है।[3] 'ज्ञान' शब्द का स्पष्टीकरण करते हुए भगवद्गीता में कहा है[4] "तुझ दोषदृष्टिरहित भक्त के लिये इस परम गोपनीय विज्ञान सहित ज्ञान को भली भांति कहूँगा जिसको जानकर तू दुःखरूपी संसार से मुक्त हो जायगा।" फिर गीता के अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं[5] "कुन्तीपुत्र! अन्तःकरण की शुद्धिरूप सिद्धि को प्राप्त हुआ मनुष्य जिस प्रकार से सच्चिदानन्दघन ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो ज्ञानयोग की परा निष्ठा है, उसको तू मुझसे ही संक्षेप में जान।" 'ज्ञानमार्ग' में भी 'ज्ञान' शब्द अध्यात्म का द्योतक है और जब उपनिषदों को श्रुति का 'ज्ञानकाण्ड' भाग कहा जाता है, तब, उपनिषदों में प्रमुख रीति से ब्रह्मज्ञान का वर्णन होने के कारण, वहां भी 'ज्ञान' शब्द का यही अर्थ अभिप्रेत है। इस कारण भारतीय विचार में शिक्षा का उद्देश्य केवल आधिभौतिक ज्ञान प्राप्त करना नहीं, है, अपितु शिक्षा का प्रमुख उद्देश्य यह है कि व्यक्ति ब्रह्म-प्राप्ति की ओर अग्रसर होने में समर्थ हो सके, और इस कारण जिस आश्रम में व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करता है उस आश्रम को 'ब्रह्मचर्य' कहा गया है तथा वेदाध्ययन शिक्षा का प्रमुख अंग है क्योंकि वेद भी ब्रह्म-प्राप्ति में सहायक हैं।[6]

उपरोक्त वर्णन के अनुसार जो ज्ञानी व्यक्ति है अर्थात् जो श्रेष्ठ अवस्था को पहुँचा हुआ व्यक्ति है उसका वर्णन गीता में कई स्थानों पर आया है।[7] बारहवें अध्याय में भक्त का जो वर्णन है वही हमारे विषय की दृष्टि से सबसे अधिक उपयुक्त होने के कारण यहां उद्धृत किया जाता है। ऐसी श्रेष्ठता प्राप्त करना अर्थात् इन गुणों का जीवन में निर्माण करना प्रत्येक व्यक्ति के लिये उचित तथा आवश्यक है। "जो किसी से द्वेष नहीं करता, जो सब के साथ मित्रता का बर्ताव करता है जो कृपालु है, जो ममत्वबुद्धि और अहंकार से रहित है, जो दुःख-सुख में समान और क्षमाशील है, जो सदा सन्तुष्ट, संयमी तथा दृढ़ निश्चयी है, जिसने अपने मन और बुद्धि को मुझमें (भगवान में) अर्पण कर दिया है। वह मेरा योगी भक्त मुझको प्यारा है। जिससे न तो लोगों को क्लेश होता है, और न जो लोगों से क्लेश का अनुभव करता है, जो हर्ष, क्रोध, भय और विषाद से अलिप्त है वही मुझको प्रिय है। मेरा वही भक्त मुझको प्यारा है जो निरपेक्ष, पवित्र और दक्ष

१. २।४।

२. १।२।८।

३. श्वेताश्वतर उपनिषद् ५।१; ईशोपनिषद् ९-११।

४. ९।१-२।

५. १८।४९।

६. उदाहरण के लिए मनुस्मृति ११।२४६।

७ २ ५५ ७२ १२ १३ २० तथा अध्याय पांचवां

है (अर्थात् किसी भी काम को आलस्य छोड़कर करता है) जो उदासीन है, जिसे कोई भी विकार डिगा नहीं सकता और जिसने सब काम्य कर्म छोड़ दिये हैं। जो न आनन्द मानता है, न द्वेष करता है, जो न शोक करता है और न इच्छा रखता है, जिसने शुभ और अशुभ फल छोड़ दिये है वह भक्तिमान पुरुष मुझको प्रिय है। जिसे शत्रु और मित्र, मान और अपमान, सर्दी और गरमी, सुख और दुःख समान है और जिसे आसक्ति नहीं है, जिसे निंदा और स्तुति दोनों एकसी है, जो मितभाषी है, जो कुछ मिल जावे उसी में सन्तुष्ट है एवं जिसका चित्त स्थिर है, जो अनिकेत है अर्थात् जिसकी किसी स्थान विशेष से आसक्ति नहीं है, वह भक्तिमान पुरुष मुझको प्यारा है।" इस प्रकार के श्रेष्ठ अवस्था पर पहुँचे हुए व्यक्ति को भारतीय समाज-व्यवस्था में समाज-जीवन का उत्तरदायित्व संभालने का अधिकारी माना गया है और इसी अवस्था तक पहुँने वाले व्यक्ति को धर्म-अधर्म के विवेचन का भी अधिकार दिया गया है।

इस प्रकार मनुष्य का लक्ष्य भारतीय विचार-धारा में 'मोक्ष' रखा गया है। तब यह स्वाभाविक ही है कि यदि मनुष्य उस लक्ष्य की ओर बढ़ता है अर्थात् धीरे-धीरे कामनाओं और स्वार्थ को कम करते हुए, सम्पूर्ण समाज के साथ तादात्म्य का अनुभव करते हुए निर्लिप्तता की ओर बढ़ता है तो यह उसकी 'उन्नति' है और यदि वह इससे विपरीत दिशा में जाता है तो वह उसकी अवनति है। इसी प्रकार जो उस मोक्ष की ओर जितना अधिक बढ़ता जाता है उसी मात्रा मे व्यक्ति अपने अन्दर अधिक श्रेष्ठ कार्य करने की तथा अधिक उन्नत, महत्त्वपूर्ण और उत्तरदायी स्थान प्राप्त करने की 'योग्यता' तथा 'अधिकार' प्राप्त करता जाता है। अतः भारतीय धारणा मे व्यक्ति अथवा सामाज की 'उन्नति' अथवा व्यक्ति की अथवा किसी वर्ग की किसी काम को करने की 'योग्यता' अथवा 'अधिकार' अध्यात्मिक अर्थ के बोधक हैं भौतिक अर्थ के नहीं। इस प्रकार जब यह कहा जाता है कि ब्राह्मण को शिक्षा देने का अथवा क्षत्रिय को राज्य करने का 'अधिकार' है अर्थात् वह यह कार्य करने की 'योग्यता' और पात्रता रखते हैं तो उसका अर्थ यह है कि उनकी इतनी अध्यात्मिक 'उन्नति' हो चुकी है अर्थात् उनमें इतने गुण हैं कि वह इन कार्यों को इस प्रकार सुचारु रीति से कर सके जिससे वह समाज का कल्याण, विकास और उन्नति करने में समर्थ हो। भारतीय विचार धारा में यह 'उन्नति' अथवा 'योग्यता' त्रिगुण के सिद्धान्त के रूप में वर्णित है अर्थात् तमोगुण से रजोगुण, रजोगुण से सतोगुण और सतोगुण से गुणातीत अर्थात् निर्गुण अवस्था की प्राप्ति व्यक्ति की उन्नति है और इसके विपरीत उसकी अवनति तथा विभिन्न कार्यों को करने का 'अधिकार', अर्थात उन कार्यों को करने की व्यक्ति की 'योग्यता', इन्हीं गुणों के अनुसार निश्चित की गई है। इस प्रकार जो व्यक्ति तमोगुणी है उसमें भिन्न प्रकार का कार्य करने की 'योग्यता' है, जो रजोगुणी है वह कुछ अन्य कार्य ठीक से कर सकते हैं और जो सतोगुणी हैं उनके लिये अन्य कोई कार्य ही सफलतापूर्वक करना संभव होता है। मनुस्मृति में इन तीनों गुणों का पूर्ण वर्णन है[1] 'सत्व' रज और तम इन तीनों को मनुष्य के गुण जाने। महान् इन तीनों गुणों से सब पदार्थों में व्याप्त होकर स्थिति है। इन तीनों गुणों में से जीव के शरीर में जो गुण पूर्णरीति से होता है वही उस शरीरधारी जीव को अपने लक्षणों से युक्त करता है। सतोगुण से ज्ञान, तमो-

१ १२ २४ ३८

गुण से अज्ञान और रजोगुण से राग-द्वेष होता है। सब भूतों के आश्रित देह में ये गुण व्याप्त रहते हैं। आत्मा में जो कुछ प्रीतियुक्त अर्थात क्लेशरहित सुखादि देखे उस प्रशान्त और निर्मल को सतोगुण जाने और जो कुछ आत्मा को अप्रसन्नताकारक और दुख से संयुक्त दिखे तथा देहधारियों में सदा विषयाभिलाष उत्पन्न करे, उस सतोगुण के नष्ट करनेवाले को रजोगुण जाने। जो मोह से संयुक्त हो अर्थात् जिसमें सत् और असत् का विवेक न हो, जो विषय-भोगों को स्पष्ट रूप से प्रकट न कर सके और न जिन्हें ठीक से जान सके और न जिनके विषय में तर्कना कर सके उसे तमोगुण जाने। तीनों गुणों के द्वारा जो उत्तम, मध्यम और अधम फल होते हैं उन्हें पूर्ण रीति से कहता हूँ। वेदाभ्यास, तप, ज्ञान, शौच, इन्द्रियसंयम, धर्मानुष्ठान और आत्मा का ध्यान, ये सब सतोगुण के लक्षण हैं। फल के लिये कर्म में रुचि, धैर्यरहित होना, निषिद्ध कर्म करना और निरन्तर विषय-भोग, ये रजोगुण के लक्षण हैं। लोभ, निद्रा, अधीरता, क्रूरता, नास्तिकता, आचार का लोप, याचना का स्वभाव, यह तमोगुण का लक्षण है। भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में विद्यमान इन सत्व आदि गुणों के ये लक्षण संक्षेप में हैं। जिस कार्य के कर लेने पर, करते समय अथवा करने के पूर्व मनुष्य लज्जित हो उस सबको तमोगुण का लक्षण जाने। मनुष्य जिस कार्य से इस लोक में अधिक ख्याति की इच्छा करता है और जिसके सिद्ध न होने पर दुखी नही होता उसे राजस कर्म जानो। जिस सम्पूर्ण कार्य से मनुष्य ज्ञान-प्राप्ति की इच्छा रखता है, जिसके करने पर लज्जित नहीं होता और जिससे आत्मा सन्तुष्ट होती है वह सतोगुण का लक्षण है। तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का अर्थ और सतोगुण का लक्षण धर्म होता है। इनमें से काम से अर्थ और अर्थ से धर्म श्रेष्ठ है।" गीता में भी तीनों गुणों का विस्तृत वर्णन है। भारतीय विचार में जहा कहीं 'गुण' शब्द का प्रयोग होता है वहां साधारणतया वह इसी अर्थ मे किया जाता है। उपरोक्त वर्णन से भारतीय विचार में 'उन्नति' और 'योग्यता' अथवा 'अधिकार' का अर्थ स्पष्ट है। केवल व्यक्ति की भौतिक उन्नति अर्थात् धन-प्राप्ति और पद-प्रतिष्ठा और भौतिक विकास कर सकने की क्षमता व्यक्ति की उन्नति अथवा योग्यता के चिह्न नही अपितु उसके जीवन में गुणों की उत्तरोत्तर वृद्धि ही व्यक्ति की उन्नति और उसकी योग्यता का विकास है। दूसरे शब्दों में, भारत में आध्यात्मिक उन्नति को ही श्रेष्ठ माना है और उस आध्यात्मिक उन्नति को त्रिगुण के सिद्धान्त के रूप में प्रदर्शित किया गया है।

गुणोत्कर्ष से व्यक्ति की बुद्धि निर्मल होती जाती है और इसलिये व्यक्ति की यह उन्नति चित्तशुद्धि पर अवलम्बित है। जिस-जिस मात्रा में व्यक्ति की बुद्धि शुद्ध होती जायगी अर्थात् सासारिक जीवन का प्रभाव कम होता जायगा उसी-उसी मात्रा में व्यक्ति की बुद्धि स्वार्थरहित और निष्कलुष होती जायगी और व्यक्ति अपने लक्ष्य ब्रह्म-प्राप्ति की ओर बढ़ता हुआ गुण-उत्कर्ष करता जायगा।" चित्त-शुद्धि के साधन हैं: जप, सन्ध्या, देवपूजा, तीर्थयात्रा, सत्सग, स्वाध्याय, दान, होम, यज्ञ, व्रत, अथवा उपसास और तप।[1] पराशरस्मृति में कहा है 'उपवास' .त, पुण्य, स्नान, सन्ध्या, पूजन आदि से और जप, होम, दया, दान से ब्राह्मण आदि शुद्ध होते

---

१. गौतम धर्मसूत्र १९।११; वसिष्ठ धर्मसूत्र २२।८; २०।४७; २५।३; मनुस्मृति ३ २२७ शातातप स्मृति १ ४ सम्वर्त स्मृति २०६ स्मृति २ ८।

है।[1] नारदपुराण का कहना है[2] "जो तीर्थस्नान, व्रत, दान, तप, यज्ञ के द्वारा विशुद्ध हैं वे कर्मयोग के मार्ग से सब के स्वामी अच्युत का पूजन करते हैं। गरुण पुराण में भी कहा गया है[3] "वेद के मंत्र-जप और यज्ञ-तप, दान, सब प्राणियों पर दया, सच्छास्त्रश्रवण, विष्णु की पूजा तथा सज्जनों की संगति, यह सब प्रेतयोनि के विनाश के लिये हैं ऐसा मैंने सुना है।" चित्तशुद्धि के इन साधनों का विस्तार से वर्णन करना न यहां संभव है और न इसकी आवश्यकता है।

इस प्रकार मनुष्य उपरोक्त साधनों के प्रयोग के द्वारा धीरे-धीरे अपनी बुद्धि निर्मल करता हुआ अपने लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ता है। जब तक मनुष्य को मोक्ष प्राप्त नहीं होता अर्थात् जब तक आत्मा पर माया का आवरण चढ़ा रहता है तब तक वह इसी माया के अन्दर घूमता रहता है। मृत्यु वास्तव में उसकी मृत्यु नहीं है—यह तो केवल शरीर का नाश-मात्र है---व्यक्ति का जीवन तो अविच्छिन्न रूप से चलता रहता है। शान्तिपर्व में कहा है[4] "देह के नष्ट हो जाने पर भी जीव का नाश नहीं होता। जो जीव की मृत्यु बतलाते हैं वे अज्ञानी है और उनका कथन मिथ्या है। जीव तो मृत देह का त्याग करके दूसरे शरीर में चला जाता है। शरीर का नाश ही मृत्यु है।" मृत्यु के साथ व्यक्ति का स्थूल शरीर तो नष्ट हो जाता है परन्तु उसका सूक्ष्म शरीर जिसके अन्तर्गत अहंकार, बुद्धि, मन, दसों इन्द्रियाँ तथा पाँच तन्मात्राएँ (स्पर्श आदि), ये १८ तत्व उसी के साथ उसके अगले जन्म में जाते हैं। अतएव अब यह कहना चाहिये कि, जो पुरुष बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है वह यद्यपि पंचमहाभूतात्मक स्थूल शरीर से अर्थात अन्तिम पाच तत्वों से छूट जाता है, तथापि इस प्रकार की मृत्यु से अन्य १८ तत्वों के साथ उसका सम्बन्ध कभी छूट नहीं सकता। वे १८ तत्व ये हैं—महान (बुद्धि), अहंकार, मन, दस इन्द्रियाँ और पंच तन्मात्राएँ। ये सब तत्व सूक्ष्म हैं। अतएव इन तत्वों के साथ पुरुष का संयोग स्थिर होकर जो शरीर बनता है उसे स्थूल शरीर के उलटा सूक्ष्म अथवा लिंग शरीर कहते है।[5] जब कोई मनुष्य बिना ज्ञान प्राप्त किये ही मर जाता है, तब मृत्यु के समय उसके आत्मा के साथ ही प्रकृति के उक्त १८ तत्वों से बना हुआ यह लिंग शरीर भी स्थूल देह से बाहर हो जाता है और जब तक उस पुरुष को ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती तब तक उस लिंग शरीर के ही कारण उसको नये-नये जन्म लेने पड़ते हैं।[6] इसका अर्थ यह है कि जैसा जिस व्यक्ति का मन होता है, जैसी उसकी बुद्धि होती है, जैसा उसके अन्दर अपनत्व (अहकार) का भाव होगा, जैसी उसकी इन्द्रियों के प्रति आसक्ति होगी वह सब पूर्वजन्म के अनुसार उसे अगले जन्म में प्राप्त होगी। इसी को गुणानुसार जन्म कहा जाता है और मनुस्मृत्ति में गुणधर्म के वर्णन के साथ इसकी भी विस्तार

---

१. १०।४० ।
२. १।१।३५ ।
३. प्रेतकल्प ७।४७-४८ ।
४. १८७।२३-२७ ।
५. सांख्यकारिका ४०. ४१ ।
६ गीतारहस्य पृष्ठ १८८

से विवेचना की है[1] "सतोगुणी लोग देवयोनि को, रजोगुणी मनुष्य योनि को और तमोगुणी तिर्यक् योनि को पाते हैं। सदा यही तीन प्रकार की गति है। यह सत्वादि गुण के कारण तीन प्रकार की गति है, यह कर्म तथा विद्या आदि की विशेषता से फिर तीन प्रकार की अधम, मध्यम और उत्तम होती है। स्थावर (वृक्ष), कृमि, कीट, मछली, सर्प, कछुआ, पशु तथा मृग यह तमोगुण से उत्पन्न हुई निकृष्ट योनि हैं। हाथी, घोड़े, शूद्र, निन्दित म्लेच्छ, सिंह, व्याघ्र और वाराह ये तमोगुण से उत्पन्न हुई मध्यम योनि हैं। चारण, पक्षी, दाम्भिक पुरुष, राक्षस, पिशाच, ये तमोगुण से उत्पन्न हुई मध्यम योनि हैं। झल्ल, मल्ल, नट, शस्त्रोपजीवी पुरुष और जुआ और मद्य में आसक्त ये रजोगुण से पैदा हुई निकृष्ट योनि है। राजा, क्षत्रिय, राजपुरोहित और जिन्हें शास्त्रार्थ का कलह प्यारा हो ये रजोगुण से पैदा हुई मध्यम गति है। गन्धर्व, गुह्यक, यक्ष, बुद्धिमानों के अनुयायी तथा अप्सरा ये सब राजसी गतियों में उत्तम राजसी गति है। वानप्रस्थ, यती, ब्राह्मण, विमानचारी, नक्षत्र, और दैत्य यह सतोगुण से उत्पन्न हुई अधम गति हैं। यज्ञकर्ता, ऋषि, देवता, वेद, नागगण, वत्सर, पितृगण और साध्यलोग ये सतोगुण की मध्यम गति है। विश्व उत्पन्न करने वाला ब्रह्मा, धर्म, महान और अव्यक्त ये सतोगुण की उत्तम गति है। ऐसा पण्डित लोग कहते हैं। मनुस्मृति के इस उद्धरण से यही बात स्पष्ट होती है कि व्यक्ति के सतोगुण, रजोगुण अथवा तमोगुण के अनुसार उसका विभिन्न योनियो में जन्म होता है।

यही बात उपनिषदों में भी कही गई है। कौषीतकीब्राह्मणोपनिषद् में, उदाहरण के लिये, कहा है[2] "अनुशयी जीव अपनी पूर्व वासना के अनुसार..... अनुकूल शरीरों में अपने कर्म और विद्या-उपासना के अनुसार जहां कहीं उत्पन्न होता है।" इसी प्रकार छान्दोग्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में भी कहा है।[3] इन सब बातों का यही अर्थ है कि मनुष्य के पूर्वजन्म में जैसे गुण होते हैं, अर्थात् जैसे संस्कार उसके पूर्वजन्म के उसके मन पर रहते हैं, तदनुसार ही व्यक्ति यह जन्म प्राप्त करता है। भारतीय व्यवस्था में वर्णों का विभाजन भी इसी सिद्धान्त पर आधारित है।

पुनर्जन्म के उपरोक्त सिद्धान्त के साथ ही गुंथा हुआ कर्मफल का अथवा कर्मविपाक का सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति जिस प्रकार का कार्य करता है उसे उसका तदनुसार फल अवश्य प्राप्त होता है। व्यक्ति की मृत्यु उसके जीवन की एक सीढ़ी मात्र है—उसके जीवन की समाप्ति नहीं, इसलिये वह कर्मफल व्यक्ति को आगे के जीवन में भी प्राप्त हो सकते है और होते हैं, केवल उन्हें छोड़कर जिन्होंने 'ज्ञान' प्राप्त कर लिया है अर्थात् जो कर्म कर्मफल की भावना से नहीं अपितु ब्रह्मार्पण वृत्ति से करते हैं और इस कारण जिनके कर्मों का क्षय हो गया है अत जिनकी संख्या समाज के अन्दर अल्पांश रूप में होती है। कर्मफल के सिद्धान्त का स्पष्ट वर्णन देते हुए शान्तिपर्व में कहा है "पाप-पुण्य मनुष्य का संग कभी नहीं छोड़ते। वह खड़ा होता है तो खड़े रहते हैं, दौड़ता है तो दौड़ने लगते हैं, और काम करता है तो वे भी काम करने लगते हैं। इस प्रकार

---

१. १२।४०-५० ।

२. १।२ ।

३ [illegible] ५ ३ १० ७ बृहदारण्यकोपनिषद् ४ ४ ५।

वे छाया के समान उसका अनुसरण करते रहते हैं। पहिले जिस-जिस ने जैसे-जैसे कर्म किये होते है, वह उनका उस-उस प्रकार से अवश्य फल भोगता है। मनुष्य अपने शुभाशुभ कर्मों के द्वारा ही अपने सुख-दुःख का विधान करता है। वह जब से गर्भ में आता है तभी से अपने पूर्वजन्मो का फल भोगने लगता है। जिस प्रकार बछड़ा सहस्रों गायों में से अपनी माता को पहिचान लेता है उसी प्रकार पूर्वजन्म में किया हुआ कर्म अपने कर्ता के पास पहुँच जाता है।[1] मनुस्मृति में कर्म का यह सिद्धान्त पूर्ण रीति से वर्णित है।[2] मनु प्रारम्भ में पापकर्मों का कायिक, वाचिक और मानसिक विभाजन करते हैं और फिर बताते हैं कि इनके परिणाम-स्वरूप कायिक, वाचिक और मानसिक कष्ट होते हैं। "देह धारण करने वाले के तीनों प्रकार के (सात्विक, राजस और तामस) तथा तीन अधिष्ठान वाले (मन, वाणी, शरीर) दशलक्षण-युक्त कर्म का प्रवर्तक मन है, ऐसा जानना चाहिये। पराया धन अन्याय से लेने की चिन्ता, मन से अनिष्ट की चिन्ता और परलोक नहीं है, यह शरीर ही आत्मा है—ऐसा मिथ्या आग्रह—ये तीन प्रकार के कर्म मानसिक हैं। कठोर वचन, झूठ बोलना, सबकी चुगली और असम्बद्ध प्रलाप—ये चार प्रकार के वाचिक कर्म हैं। बिना दिया हुआ धन लेना, विधिरहित हिंसा, पराई स्त्री का सेवन—ये तीन शारीरिक कर्म हैं। जीव मानसिक शुभाशुभ कर्मों का फल मन से, वाचिक का वाणी से, और शारीरिक का शरीर से भोगता है। अन्य कई धर्मग्रन्थों में भी कर्मफल के इस सिद्धान्त का वर्णन मिलता है।[3] व्यक्ति के कर्मों का फल उसे विभिन्न प्रकार से मिलने का वर्णन शास्त्रों में आया है। सब से प्रथम तो यह फल स्वर्ग और नरक के रूप में प्राप्त होता है। स्वर्ग और नरक के विषय मे उल्लेख श्रुतियों और स्मृतियों में पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होता है[4] परन्तु पुराणों में नरकों की यातनाओं का वर्णन विस्तार के साथ दिया हुआ है। वास्तव में नरक अथवा स्वर्ग है कि नहीं यह तो कहना कठिन है परन्तु नरकों का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन यह सिद्ध करने के लिये है कि पापपूर्ण अर्थात् समाज-जीवन और सामाजिक मर्यादा के विरोधी कृत्य करने पर उसका परिणाम भयकर होता है तथा सद्वृत्ति रखकर शुभ काम करने पर सुख होता है। कर्मविपाक के सिद्धान्त का दूसरा वर्णन इस रूप में भी आता है कि जीव को अगले जन्म में अपने पाप और पुण्यों का फल भोगना पडता है। योगसूत्र मे कहा है[5] कि कर्मो का विपाक जाति, आयु और भोग के रूप में प्राप्त होता है अर्थात्

१. ३२३।१०।२० ।

२. १२।४-९ ।

३. शतपथ ब्राह्मण ५।२।२।२७; बृहदारण्यकोपनिषद् ४।४, ६।२; छान्दोग्योपनिषद् ३।१४; ५।३-१०; कठोपनिषद् ५।६-७; गौतमधर्मसूत्र ११।२९-३०; आपस्तम्ब धर्मसूत्र २।१।२।२-७; विष्णुधर्मसूत्र २०।४७ ।

४. ऋग्वेद १।१२५।५; अथर्ववेद ३।२९।३; ४।२, ६, ३४; ६।१२०।३; १२।३।१७; १२।४।३६; वाजसनेयी संहिता २०।५; तैत्तरीय संहिता ६।६।९।२; गौतमधर्मसूत्र १३।७; २१।४-६; आपस्तम्बधर्मसूत्र १।४।१२।१२; १।४।१३।४; २।९।२३।१२; मनुस्मृति १२।२१-२२; याज्ञवल्क्यस्मृति ३।२१-२५।

५ २ १ ३

मनुष्य की कितनी आयु होगी, उसे किस मात्रा में सुख और दुःख प्राप्त होते हैं तथा उसकी योनि (अर्थात् स्थावर, पशु अथवा मनुष्य) और उसकी जाति कौन सी होगी यह सब पूर्व जन्म के कर्म पर निर्भर करता है। मनुस्मृति में कहा है[1] "शरीर के कर्मों के दोष से मनुष्य स्थावर होता है वाचिक कर्मों के दोष से पक्षी तथा पशु होता है और मानसिक कर्मों के दोष से अन्त्यज होता है" कर्मफल का तीसरा स्वरूप है अंगदोष।[2] उदाहरण के लिये शातातपस्मृति में सब से प्रथम अध्याय में संक्षेप में रोग-वर्णन हैं तथा दूसरे अध्याय से पांचवें अध्याय में विभिन्न हत्याओं, विभिन्न प्रकार की चोरियों, विभिन्न स्त्रियों से अनुचित सम्बन्ध तथा अन्य विविध प्रकार के दुष्कर्म करने से उत्पन्न होने वाले रोगों का विस्तार से वर्णन दिया गया है।

पुनर्जन्म और कर्मविपाक का सिद्धान्त भारतीय दर्शन की अपनी विशेषता है और इनके द्वारा जीवन की बहुत सी गुत्थियों को सुलझाना संभव हो गया है। पुनर्जन्म के सिद्धान्त के कारण मनुष्य को इस जीवन की निराश अवस्था से दुखी होने का अथवा इस जन्म की सुखी अवस्था से प्रसन्न होने का कोई कारण नहीं है अपितु यह ज्ञान उत्पन्न होता है कि आगे भी अवसर है और उन अवसरों के लिये प्रयत्न करना चाहिये। योग्य प्रयत्न करने पर आज की बुरी अवस्था को काल बदला जायगा और योग्य प्रयत्न न होने पर आज की सुखी अवस्था भी समाप्त हो सकती है। मोक्ष का लक्ष्य मानने के पश्चात् पुनर्जन्म को मानना आवश्यक हो जाता है क्योंकि यदि पुनर्जन्म न माना जाय तो साधारणतया किसी भी मनुष्य को एक जन्म में ही मोक्ष प्राप्त करना संभव नहीं इस कारण व्यक्ति एक-एक सीढ़ी आगे बढ़ता हुआ मोक्ष प्राप्त कर सकता है और एक जीवन का प्रयत्न निष्फल नहीं है अपितु आगे के जन्म में काम देता है। अर्जुन भगवान श्रीकृष्ण से पूछते हैं "हे कृष्ण! जिसमें श्रद्धा हो, परन्तु पूरा प्रयत्न अथवा संयम न होने के कारण जिसका मन योग से विचलित हो जाय वह योगसिद्धि न पाकर किस गति को जा पहुँचता है? हे महाबाहु श्रीकृष्ण! वह पुरुष मोहग्रस्त हो ब्रह्मप्राप्ति के मार्ग में स्थिर न होने के कारण दोनों ओर से भ्रष्ट हो जाने पर छिन्न-भिन्न बादल के समान नष्ट तो नहीं हो जाता"? श्रीकृष्ण उत्तर देते हैं "हे पार्थ! क्या इस लोक में और क्या परलोक में ऐसे पुरुष का कभी विनाश होता ही नहीं क्योंकि, हे तात! कल्याण-कारक कर्म करनेवाले किसी भी पुरुष की दुर्गति नहीं होती। पुण्यकर्ता पुरुषों को मिलने वाले लोकों को पाकर और बहुत वर्षों तक निवास करके फिर वह योगभ्रष्ट पुरुष पवित्र श्रीमान लोगों के घर में जन्म लेता है अथवा बुद्धिमान योगियों के कुल में ही जन्म पाता है। इस प्रकार का जन्म लोक में बड़ा दुर्लभ है। उसमें (अर्थात् इस प्रकार से प्राप्त हुए जन्म में) वह पूर्वजन्म के बुद्धि संस्कार को पाता है, और हे कुरुनन्दन! वह उससे फिर सिद्धि पाने का प्रयत्न करता है।... प्रयत्नपूर्वक उद्योग करके पापों से शुद्ध होता हुआ योगी अनेक जन्मों के अनन्तर सिद्धि पाकर अन्त में उत्तम गति पा लेता है"[3]। इस प्रकार पुनर्जन्म के कारण क्रमशः उन्नति करता हुआ व्यक्ति

---

१. १२।९, ५९-७०; देखिये अन्य स्मृतियां तथा पुराण इसी प्रकार के विस्तृत वर्णन के लिए।

२. मनुस्मृति ११।४८-५३; याज्ञवल्क्यस्मृति ३।२०९-११; वसिष्ठ धर्मसूत्र २०।४४; वेष्णुधर्मसूत्र ४५ अध्याय।

३ गीता ६।३७-३८ ४०-४३ ४५।

अपने लक्ष्य तक पहुँच सकता है। 'कर्म सिद्धान्त की भी बहुत उपयोगिता है। इसके द्वारा मनुष्य सदैव शुभ कर्म करते रहने की प्रेरणा पाता है क्योंकि आज जैसा कर्म करेगा वैसा ही कल फल प्राप्त करेगा। 'कर्म' का सिद्धान्त पूर्व किये हुए कर्मों की दृष्टि से भाग्यवादी है अर्थात् जो कर्म किये है उनका फल अवश्य प्राप्त होगा, इस कारण वर्तमान की दुखी अथवा पतित अवस्था के लिये न तो किसी को कोसने की आवश्यकता है और न वर्तमान की श्रेष्ठ स्थिति के लिये अभिमान करने की आवश्यकता। जहां वर्तमान में प्राप्त होने वाले फल अर्थात् वर्तमान काल की अवस्था की दृष्टि से यह सन्तोष की वृत्ति पैदा करता है वहां भविष्य की दृष्टि से यह मनुष्य को आगे बढ़ने का आह्वान देता है। इस सिद्धान्त के कारण यह भी निश्चित हो जाता है कि संसार-जीवन की गति किसी कोने मे बैठे हुए परमात्मा की किन्हीं चित्र-विचित्र इच्छाओं पर निर्भर नहीं है और न संसार का जीवन आकस्मिक घटनाओं का पुज है परन्तु संसार में सब कुछ किन्हीं निश्चित नियमों पर अवलम्बित है। जैसे सूर्य का उगना, पानी का नीचे की ओर बहना, ऋतुओं का निश्चित रूप से एक के पश्चात् एक आना निश्चित है उसी प्रकार जीवन में प्रत्येक के लिये जैसा वह करेगा वैसा उसे फल प्राप्त करना भी निश्चित है। इस प्रकार किसी भी बात के लिये व्यक्ति को दूसरो को दोष देने का कोई कारण नहीं है, यह उसका अपना 'कर्म' है। आगे की प्रगति की दृष्टि से भी उसे किसी दूसरे पर निर्भर अथवा अवलम्बित रहना ठीक नहीं, वह प्रगति करना उसका अपना व्यक्तिगत उत्तरदायित्व है। मनुष्य किसी के हाथ का खिलौना नही है वह अपने भाग्य का स्वयं निर्माता है।

यहां तक मोक्षधर्म का अर्थात् नि श्रेयस का तथा मोक्ष प्राप्ति करने के पूर्व और उसके पश्चात् की मनुष्य की स्थितियों का वर्णन आवश्यकता के अनुसार किया गया है। मनुष्य का लक्ष्य मोक्ष है और प्रत्येक व्यक्ति को संसार से मुक्त होकर अपने निर्लिप्त निर्गुण स्वरूप को पहिचान लेना चाहिये। यह भारतीय विचार-धारा का आग्रहपूर्वक प्रतिपादन है। परन्तु यह प्रतिपादन करने पर भी सांसारिक जीवन की उपेक्षा भारतीय विचारधारा में नहीं की है। यह सत्य है कि मनुष्य को संसार से अर्थात् माया से मुक्ति पानी है परन्तु जब तक व्यक्ति मुक्त नहीं होता, जब तक ब्राह्मण, चाण्डाल, हाथी और कुत्ते सब में व्यक्ति को एक ही भगवान के दर्शन नहीं होते अर्थात् सम-दृष्टि नहीं प्राप्त होती तब तक तो यह संसार अपनी सम्पूर्ण वास्तविकता और विविधता में सत्य ही हैं, और व्यक्ति को यहां रहते हुए श्रेष्ठता के साथ स्वयं का जीवन व्यतीत करने का प्रयत्न करना भी आवश्यक है, तथा समाज-जीवन के साथ समरस होकर चलते हुए उस समाज-जीवन को श्रेष्ठ बनाना भी आवश्यक है। इस संसार को मिथ्या कहकर ससार से भगने की वृत्ति भारतीय विचार मे नही स्वीकार की गई है। संसार से निर्लिप्त होने की अवस्था तथा सांसारिक जीवन के उत्तर-दायित्व से भगने की वृत्ति यह दोनों पृथक्-पृथक् बातें हैं और पहिली स्थिति जहां एक भावात्मक स्थिति है (positive), व्यक्ति की उन्नत अवस्था की द्योतक है जिसमें व्यक्ति सांसारिक जीवन की वास्तविकता और तथ्य को समझकर उससे ऊपर उठ जाता है वहाँ दूसरी स्थिति व्यक्ति के निकृष्ट जीवन की ओर सकेत करनेवाली है, पहिली अवस्था गुणातीत अवस्था है और दूसरी अवस्था, आलस्य की तमोगुणी अवस्था है। इस कारण ईषोपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् में कहा है[1]

---

१ ८ द ४।४ १० ।

"जो अविद्या---भौतिक जीवन---की उपासना करते हैं वे गाढ़ अन्धकार में जाते हैं और जो केवल विद्या में ही रत हैं वे उससे भी अधिक अगाढ़ अन्धकार में जाते हैं।"। राधाकृष्णन उपनिषदों के अध्यात्मवादी तत्वज्ञान के संबंध में कहते हैं[1] "उपनिषद् यह नहीं कहते है कि अनन्त के अन्तर्गत सीमित का--भौतिक जगत--समावेश नहीं होता। जहां कहीं वह कहते हैं कि ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है वहां वह ध्यानपूर्वक यह भी जोडते हैं कि संसार ब्रह्म में आधारित है और इस प्रकार उसमें भी सत्यांश है।" ब्रह्म और जगत की एकता का प्रतिपादन उपनिषदों में सर्वत्र है। माण्डूक्योपनिषद् में पहिला ही मंत्र है "सम्पूर्ण जगत उसका ही उपव्याख्यान है।" श्वेताश्वतरोपनिषद का कहना है[2] 'जो हो चुका है, जो होनेवाला है तथा जो अन्न से वृद्धि को प्राप्त हो रहा है, यह सब पुरुष-परमात्मा ही है।'[3] पुराणों में भी जहा कहो भगवान की स्तुति की गई है वहां-वहां इस सम्पूर्ण जगत को भगवान का स्वरूप बताया गया है। सृष्टि उत्पत्ति के वर्णन में पहिले बताया ही गया है कि भारतीय धर्मशास्त्रों के अनुसार प्रारम्भ में एक निर्गुण ब्रह्म ही था और उसने अपने में से ही इस सम्पूर्ण जगत को उत्पन्न किया। पीछे यह भी बताया गया है कि ब्रह्म ने ही दो होने की इच्छा की और स्वयं को दो भागों में विभक्त किया, तथा, यह दो भाग ही पुरुष और प्रकृति तथा ब्रह्म और माया हैं। इस प्रकार इस संसार की परमात्मा से एकता बताकर और इसे परमात्मा की इच्छा पर आधारित बताकर भारतीय धर्मशास्त्रों ने इस संसार की भी सत्यता और वास्तविकता को स्वीकार किया है। भारतीय धर्मशास्त्र यह तो कहते हैं कि यह जगत मिथ्या है और ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है परन्तु ऐसा कहने का यह अर्थ है कि जगत परिवर्तनशील होने के कारण इसके अन्दर सत्यता नहीं है, सत्य तो वही हो सकता है जो निरन्तर रहता है। विनाशशील वस्तुएं तो असत्य ही है और इसलिये सभी वस्तुओं के अन्तर्गत निवास करने वाला अमृतरूपी, अनन्त और अविनाशी ब्रह्म ही एकमात्र सत्य है, अन्य कुछ नहीं। परन्तु संसार मिथ्या है यह कहने का यह अर्थ कदापि नहीं है कि संसार है ही नहीं। केवल उसके अन्दर यही सिद्ध करने का प्रयास है कि परिवर्तनशील संसार को ही सत्य समझकर इसके अन्दर के वास्तविक तथ्य को भूलने से मनुष्य भ्रमित होकर संसार की ही आशा, निराशा, सुख, दुःख, तृष्णा, लालसा मे भटका रहकर अपने वास्तविक लक्ष्य को भूल जाता है। संसार के अस्तित्व को तो सदैव स्वीकार किया ही गया है। इसलिये एक दृष्टि से संसार मिथ्या है और दूसरी दृष्टि से सत्य भी, सत्य इस दृष्टि से कि उसका अस्तित्व है, और असत्य इस दृष्टि से कि वह नष्ट हो जायगा और उसमें स्थिरता नहीं है। भारतीय आध्यात्मिक तत्वज्ञान के अन्दर संसार का अस्तित्व अस्वीकार नहीं किया गया है, यह बात विचारशील विद्वानों ने भी मान्य की है। श्री रामकृष्ण भण्डारकर ने लिखा है, कि "कुछ प्रतिष्ठित विद्वानों द्वारा व्यक्त किया गया मत, कि उपनिषदों की मूल शिक्षा है संसार की असत्यता तथा एक आत्मा की ही सत्यता, स्पष्ट रूप से गलत है। मैं यह भी कहूँगा कि यह एक अनालोचक दृष्टि का द्योतक है"[4]। हॉपकिन्स का भी अमेरिकन

---

१. इण्डियन फिलोसोफी, प्रथम भाग, पृष्ठ १९० ।

२. ३।१५ ।

३. देखिए मुण्डकोपनिषद् १।१।७; छान्दोग्योपनिषद् ६।११ भी ।

४ 'वैष्णविज्म' पृष्ठ २ का पदपाठ ।

ओरियन्टल सोसाइटी की पत्रिका मे प्रकाशित एक लख मे यही कथन है जो बात उपनिषदो के सम्बन्ध में सत्य है वही अन्य धर्मशास्त्रो के विषय में भी। धर्मशास्त्रों में सामाजिक तथा व्यक्तिगत जीवन के नियमों का वर्णन भी यही सिद्ध करता है कि भारतीय धर्मशास्त्रकार इस सांसारिक जीवन को असत्य नहीं मानते थे परन्तु इसके अन्दर, तथा इसके द्वारा, वे चरम सत्य की ओर मनुष्य को ले जाना चाहते थे। भारतीय विचार में भौतिकता को कितना महत्त्व है यह आगे बताया जायगा परन्तु यहां इतना ही दिखाने का प्रयास किया गया है कि संसार में मिथ्यात्व में विश्वास करते हुए भी भारतीय विचार संसार का अस्तित्व स्वीकार करता है।

इसलिये परलोक की दृष्टि से जहां मनुष्य के सामने पुरुषार्थ के रूप में मोक्ष रखा गया है वहा सांसारिक जीवन की दृष्टि से दो पुरुपार्थ 'अर्थ' और 'काम' भी बताये गये हैं। 'काम' के अन्तर्गत केवल स्त्री-पुरुषों का ही सम्बन्ध नहीं है यद्यपि कामशास्त्रों—ने इसी विषय का विवेचन किया है और मनुष्य की सबसे प्रबल वासना भी यही है परन्तु मनुष्य की सभी इच्छाएँ 'काम' शब्द के अन्तर्गत आती हैं। इसी प्रकार 'अर्थ' के अन्तर्गत केवल 'धन' का ही समावेश नहीं है परन्तु ऐसे सभी साधन, जो समाज में मनुष्य की इच्छा पूर्ति के लिये सहायक के रूप में हैं तथा जिनसे समाज पर ऐहिक सत्ता प्रस्थापित हो रही है, वह सब 'अर्थ' के अन्तर्गत आते हैं। अतः एक ओर 'मोक्ष' नाम का पुरुषार्थ है जो पारलौकिक उन्नति की ओर मनुष्य को ले जाता है तथा दूसरी ओर 'अर्थ' और 'काम' है जिनसे मनुष्य इसी जीवन में सुख और आनन्द का उपभोग करता है। सब से अन्त में, एक ओर मोक्ष और दूसरी ओर 'अर्थ' और 'काम' का समन्वय करनेवाला चौथा पुरुषार्थ 'धर्म' है। इन चार पुरुषार्थों में 'मोक्ष' तो पारलौकिक जीवन से ही केवल सम्बन्धित है परन्तु शेष तीन पुरुषार्थ ऐसे हैं जिनका इसी जीवन में प्रयोग करना होता है। इसलिये इन तीन पुरुषार्थों को 'त्रिवर्ग' के नाम से पुकारा जाता है।[२] इन तीनों के पालन और समन्वय का बहुत महत्त्व है। मनु का कहना है[३] "कुछ लोग धर्म और अर्थ को कल्याणकारी कहते हैं, कितने ही काम और अर्थ को, तथा कितने ही केवल धर्म को अथवा केवल अर्थ को कल्याणकारी बताते हैं परन्तु वास्तव में यह त्रिवर्ग ही श्रेयस्कर है।" अग्निपुराण में[४] त्रिवर्ग की उपमा एक वृक्ष से दी गई है जिसकी जड़ धर्म है जिसके पत्ते अर्थ है तथा जिसका फल काम है। दक्षस्मृत्ति ने त्रिवर्ग का समन्वय इन शब्दों में किया है[५]। "क्लेश के बिना द्रव्य (अर्थ) नहीं मिलता और द्रव्य के बिना कर्म नहीं होता तथा कर्महीन के द्वारा धर्म नहीं होता। धर्महीन को सुख नहीं और सब सुख रंजन (काम) में ही है तथा रजन धर्म से होता है"।[६]

१. भाग २२, पृष्ठ ३८५ ।

२. उद्योगपर्व १२४।३४; मनुस्मृति २।२२४ ।

३. २।२२४ ।

४. २२४।२ ।

५. १४।१८-१९ ।

६ देखिए व्यासस्मृति २।१७-१८ तथा मत्स्यपुराण २२वां अध्याय राजा पुरुरवा की कथा।

इन तीनो पुरुषार्थों में काम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। काम के उपभोग का आश्रम गृहस्थाश्रम है और गृहस्थाश्रम को सब आश्रमों में प्रमुखता है। सब के लिये गृहस्थाश्रम की अनिवार्यता भी रखी गई है।[१] 'काम' का ही महत्त्व बताने के लिये भारत में अति विचित्र लगनेवाली लिंग और योनि की पूजा होती है तथा शिव और पार्वती पारिवारिक जीवन के प्रतीकात्मक देवता होने के कारण उनका एक अति प्रसिद्ध पूजित रूप अर्द्धनारीश्वर का है। शिवलिंग की कथा भी वामनपुराण के छठे अध्याय में है जिसमें बताया गया है कि सब ऋषियों ने श्राप देकर शिवलिंग को स्थान भ्रष्ट किया तो सारा संसार क्षुब्ध हो गया। भगवद्गीता में कृष्ण भगवान ने स्वयं को कामरूप बताया है।[३] अथर्ववेद में कहा गया है।[६] "काम सब से पहिले उत्पन्न हुआ। इसे न देवों ने जीत पाया, न पितरों ने, न मनुष्यों ने। इसलिये हे काम! तू सब प्रकार से बहुत बड़ा है अतः मैं तुझको नमस्कार करता हूँ।" काम का इतना महत्त्वपूर्ण वर्णन करने पर भी अत्यधिक कामोपभोग की निन्दा की गई है। दक्षस्मृति में है "कोई मनुष्य विषय और इन्द्रियों के संयोग को योग कहते हैं। उन निर्बुद्धियों ने अधर्म को धर्म के रूप में ग्रहण किया है।" नारदपुराण में भी कहा गया है कि "जो

---

१. पद्मपुराण, उत्तरखण्ड ७५।१०-१३; शान्तिपर्व २३।१-५; दक्षस्मृति ३।४५-४८, "तीनो आश्रमों का मूल गृहस्थ कहा है। इसके दुःखी रहने से जगत के तीनों आश्रम दुःखी हो जाते हैं। जड़ की रक्षा से तना उत्पन्न होता है, तने से शाखाएँ और पत्ते उत्पन्न होते हैं। और मूल का नाश होने से ये सब नष्ट हो जाते हैं। इस कारण राजा तथा अन्य आश्रम के अनिनियों द्वारा गृहस्थ सदैव माननीय और रक्षणीय है।" देखिए गृहस्थाश्रम का वर्णन अन्य स्मृतियों तथा इतिहास-पुराण ग्रन्थों में भी।

२. बिना विवाह किये मनुष्य यज्ञ नहीं कर सकता, ऋग्वेद १।७२।५; ५।३।२, पाणिनि ४।१।३३; रामायण ७।९१।२५; पूर्वमीमांसा ६।१।१७-२१; तैत्तिरीय ब्राह्मण ३।७।११ कात्यायनस्मृति कर्मप्रदीप अंश ८।५ तथा बिना पुत्रोत्पत्ति के 'पुत' नामक नरक प्राप्त होता है—बृहदारण्यकोपनिषद् १।५।१७; मनुस्मृति ९।१३८; विष्णुधर्मसूत्र १५।४४; आदिपर्व १२०।१४, अत्रिस्मृति ५३-५४।

देखिये विवाह की अनिवार्यता के लिए आदिपर्व अध्याय ४५ में जरत्कारु की कथा भी, शतपथ ब्राह्मण में विवाह की अनिवार्यता के विषय में कहा है (५।२।१।१०) "पत्नी जो है वह स्वयं का आधी है। जब तक मनुष्य पत्नी नहीं प्राप्त करता तब तक वह पुत्र उत्पन्न नहीं करता और तब तक वह पूर्ण नहीं है। परन्तु जब वह पत्नी प्राप्त कर लेता है तब वह पूर्ण होता है।" मनुस्मृति में भी कहा है (६।३७) "जो द्विज बिना वेद पढ़े—ब्रह्मचर्य बिना सन्तान उत्पन्न किये और बिना यज्ञ किए ही—गृहस्थ-मोक्ष की इच्छा करे—संन्यास—तो उसकी अधोगति होती है।"

३. ७।११।

४. २।१९।

५. ७।१४।

६ १।१।४७३।

सदैव कामादि में लिप्त रहता है उसे मूढबुद्धि कहते हैं[१]।" इतिहास-पुराण ग्रन्थों में विश्वामित्र आदि ऋषियों की, जो काम के वशीभूत होकर नष्ट हो गये, कथाएँ देकर काम की सर्वव्यापकता तो बताई ही है परन्तु साथ-साथ यह भी बताया है कि काम के ऊपर मनुष्य को नियत्रण रखना चाहिये।

'अर्थ' का भी बहुत अधिक महत्त्व बताया है। शान्तिपर्व में कहा है कि[२] "अर्थ से ही सब कार्यों का प्रारम्भ होता है" तथा और भी कहा है[३] "जिस प्रकार सभी जीवन देनेवाले पानी के स्रोतों का उद्‌गम पर्वतों से होता है उसी प्रकार से मनुष्य के सभी कार्य भी अर्थ से ही उत्पन्न होते हैं"। धर्मशास्त्रों ने 'अर्थ' के दोनों अंगों की अर्थात् 'राजधर्म' और 'धन' की बहुत प्रशंसा की है। उदाहरण के लिये राजा के महत्त्व के विषय में कहा है[४] कि "राजा के अभाव में प्राणियों का सर्वथा नाश हो जाय तथा उसके रहने पर ही वह जीवित रहे इसलिये उस राजा की कौन पूजा करेगा!" तथा उपमाएँ देते हुए बताया है[५] कि जैसे बिना पानी के नदी, वृक्षो के बिना वन तथा ग्वाले के बिना गौओ की ठीक अवस्था नहीं रहती उसी प्रकार राजा के बिना राज्य भी ठीक अवस्था में नहीं रहता। इसी प्रकार धन के महत्त्व के सम्बन्ध में कहा गया है "मनुष्य को बैठते, उठते, सोते, चलते-फिरते समय भी छोटे बड़े हर प्रकार के उपायो से दृढतापूर्वक धन कमाने का उद्योग करना चाहिये। धन अत्यन्त दुर्लभ और प्रिय वस्तु है। इसके प्राप्त हो जाने पर मनुष्य संसार में अपनी सब कामनाएं पूर्ण कर सकता है। धर्मयुक्त अर्थ और अर्थ युक्त धर्म अमृत के समान फलदायक हैं[६]। तथा यह भी कहा है[७] कि "यदि व्यक्ति सम्पत्ति से युक्त हो तो वह निष्ठुर हो अथवा अनिष्ठुर हो, गुणहीन हो अथवा गुणवान हो, मूर्ख हो अथवा पण्डित हो वही पूज्य होता है इसमें संशय नहीं।" वेद तो अर्थ-प्राप्ति की प्रार्थना से भरे हुए है। परन्तु जिस प्रकार से अत्यधिक काम की निन्दा की गई है उसी प्रकार से अर्थ की अत्यधिक तृष्णा की भी निन्दा की गई है।[८]

यद्यपि 'काम' और "अर्थ' दोनों के महत्त्व का वर्णन भारतीय विचारधारा मे मिल जाता है परन्तु इन दोनों में 'अर्थ' को 'काम' से श्रेष्ठ माना गया है तथा धर्म इन दोनो से भी अधिक श्रेष्ठ है। मनुस्मृति में तमोगुण का लक्षण काम, रजोगुण का लक्षण अर्थ

---

१. देखिये व्यासस्मृति ३।४९ तथा मत्स्यपुराण के अध्याय १३९ में काम के कारण त्रिपुर का विनाश।

२. १५।४७।

३. ८।१३।

४. शान्तिपर्व ६८।३५; देखिए मनुस्मृति ७।३; कौटिलीय अर्थशास्त्र १।१३।६-९।

५. अयोध्याकाण्ड अध्याय ६७।८-३१।

६. शान्तिपर्व अध्याय १६७।

७. नारदपुराण १।१।११।१५३-५४।

८. देखिये अर्थ की प्रशंसा और निन्दा के लिए पद्मपुराण, सृष्टिखण्ड, अध्याय ५१, स्कन्दपुराण ——— १८५।१४ १६ २०९ २४ ३५ भागवत ११ २३।१६ २६ आदि।

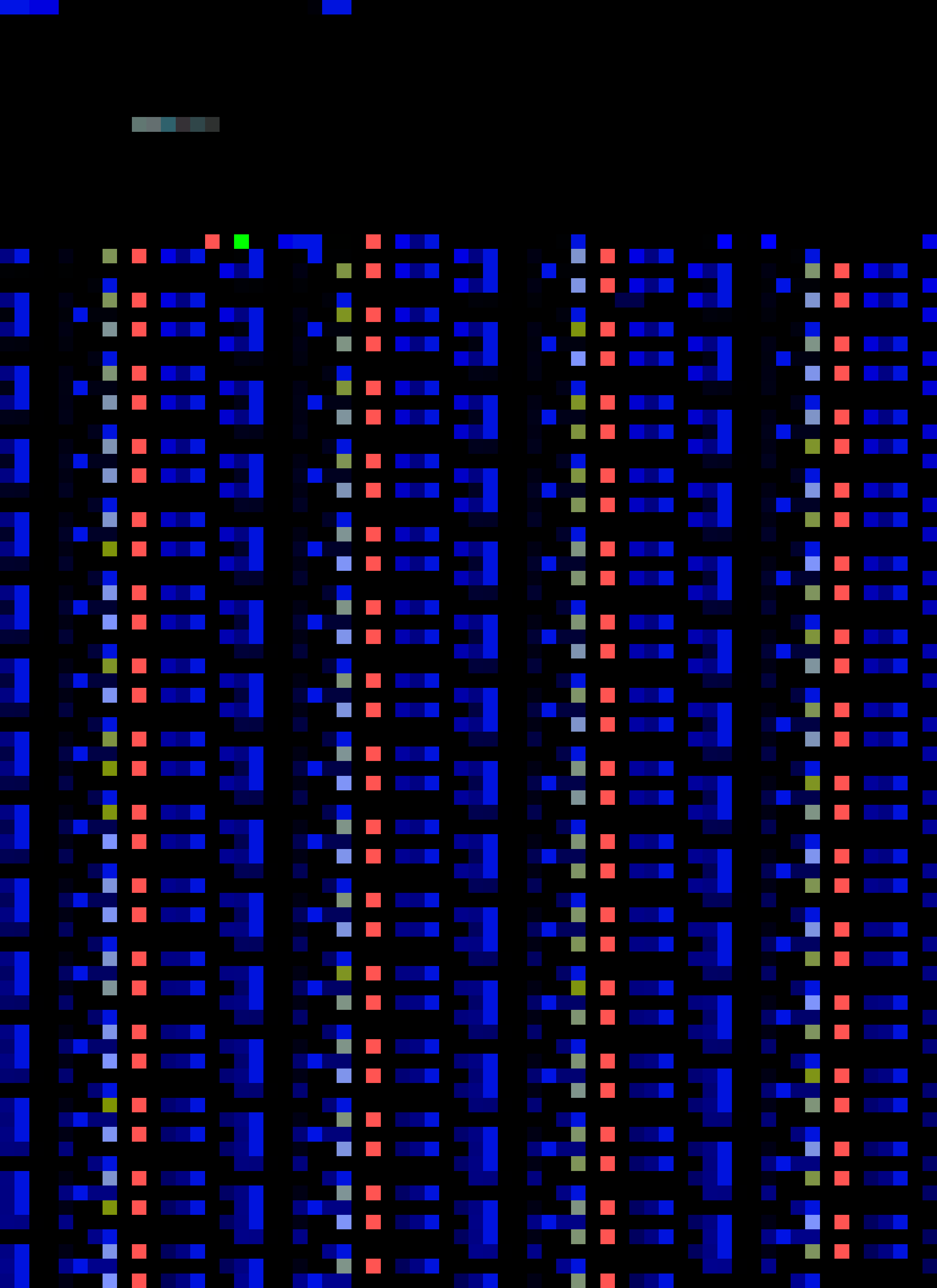
तथा सतोगण का लक्षण धम बताया है शान्ति पव में भी धम को प्रधान अय को मध्यम और काम को निम्नतर परुषार्थ कहा है इसी प्रकार उद्योगपव म कहा है "यदि त्रिवर्ग असंभव है तो मनुष्य धर्म और अर्थ का सेवन करते हैं। यदि तीनों में पृथकत्व है तो धर्म का सेवन करना चाहिये।" वात्स्यायन के काम सूत्र प्रारम्भ में भी धर्म, अर्थ तथा काम की व्याख्या करके कहा गया है कि इनमे से काम से अर्थ और अर्थ से धर्म श्रेष्ठ है। इस त्रिवग मे अर्थ और काम से धर्म केवल श्रेष्ठ ही नहीं अपितु अर्थ और काम का धर्मानुसार उपभोग करने का आग्रह है। ऊपर बताया ही गया है कि अर्थ और काम के महत्व के वर्णन के साथ ही साथ उनके अमर्यादित उपभोग की भी निन्दा की गई है। यह बात सत्य है कि अर्थ और काम की समाज-जीवन के लिये बहुत आवश्यकता है। काम के कारण तो संसार का जीवन ही चलता है। 'काम' की आवश्यकता बताते हुए शान्तिपर्व में भीम कहते हैं "धर्मराज जिसके भीतर कामना नहीं है उसे न धन कमाने की इच्छा होती है, न धर्म करने की। कामना के बिना तो कोई काम भी नही चाहता। कोई न कोई कामना रखकर ही ऋषि लोग कठोर तपस्या में संलग्न होते हैं, फल, मूल और पत्ते चबाकर, वायु पीकर सावधानी के साथ संयम करते हैं। कामना से ही लोग वेदों का स्वाध्याय करते; श्राद्ध, यज्ञादि क्रियाओं में प्रवृत्त होते तथा दान देते और प्रतिग्रह स्वीकार करते हैं। यदि काम नष्ट हो जाय तो संसार-वृक्ष की वृद्धि ही रुक जाय और संसार का ह्रास हो जाय।"[२] "इसी प्रकार अर्थ के कारण व्यक्ति और समाज का जीवन सुखपूर्वक व्यतीत होता है और व्यक्ति विभिन्न कार्य करने में समर्थ होता है। 'अर्थ के बिना धर्म और काम भी सिद्ध नहीं होते'"। इसके अतिरिक्त अर्थ और काम की आवश्यकता तथा महत्त्व का एक और भी कारण है। संसार-जीवन मे लगा हुआ व्यक्ति जब तक उस जीवन का पूर्ण उपभोग कर, उससे सन्तुष्ट होकर, उसकी निस्सारता अनुभव नहीं करता, तब तक वह निर्लिप्त जीवन अथवा मोक्ष की ओर बढ़ ही नही सकता। संसार-जीवन की लालसा में लगे हुए व्यक्ति को संसार जीवन त्यागने का उपदेश निरर्थक होगा। इसलिये सब प्रकार के ऐश्वर्य को पूर्ण रीति से भोगने और इस सांसारिक जीवन में भी श्रेष्ठता प्राप्त करने का धर्मशास्त्रों ने नियम बनाया है। इसलिये गृहस्थाश्रम के पश्चात् ही संन्यास का विधान किया गया है। इसलिये शूद्रत्व (काम) तथा वैश्यत्व और क्षत्रियत्व (अर्थ) से आगे बढ़कर ही ब्राह्मणत्व प्राप्त होता है क्योंकि जब व्यक्ति सब प्रकार के जीवन का अनुभव कर (पूर्वजन्मों में) उसकी निस्सारता समझकर सब प्रकार की लालसा त्याग देता है तभी उसके लिये श्रेष्ठ अवस्था को प्राप्त करना संभव है। महाभारत में और मत्स्यपुराण में चन्द्रवंशी राजा ययाति की कथा विस्तार से दी गई है जिन्हें बुढ़ापा आने पर भी भोगों की लालसा बनी रही और इसलिये उन्होंने अपने पुत्र पुरु से उसका यौवन मांगकर एक सहस्र वर्ष तक फिर से भोगपूर्ण जीवन व्यतीत किया और तत्पश्चात् ही उन्हें भोगो की निस्सारता अनुभव हुई। परन्तु ऐश्वर्य को पूर्ण रीति से भोगने का अर्थ यह नहीं है कि पापमय रीति से ऐश्वर्य भोगा जाय। यदि कामोपभोग अथवा

---

१. १६७।८-९।
२. १२४।३५-३६।
३ अध्याय १६७

है जिसके आचरण से महत्व की प्राप्ति नहीं होती उसे अधर्म कहते हैं। इस प्रसंग में आचार्य लोग उसे धर्म कहते हैं जिसके आचरण से इष्ट की प्राप्ति हो।" इस व्याख्या में भी इहलौकिक और पारलौकिक दोनों प्रकार की कुशलता अथवा दोनों प्रकार की सिद्धि की ओर संकेत किया गया है। धर्मशास्त्रों में जिस धर्म का अर्थात् जिस समाज-व्यवस्था का वर्णन किया गया है वह ऐसा ही धर्म है जो अर्थ और काम के नियंत्रित उपयोग की अनुमति देते हुए मनुष्य की वृत्ति मोक्ष की ओर मोड़ देता है।

ऊपर के विवेचन के साथ लगा हुआ एक अन्य भी प्रश्न है। क्या केवल इतना कह देना मात्र पर्याप्त होगा कि व्यक्ति को ऐहिक सुखोपभोगों का मर्यादित सेवन करते हुए सांसारिक जीवन से ऊपर उठकर अपने लक्ष्य मोक्ष की ओर बढ़ना चाहिये ? भारतीय विचार में यह माना गया था कि केवल यह कहना ही पर्याप्त नहीं होगा। सम्पूर्ण समाज-जीवन की योजना भी इस ढंग से करनी आवश्यक होगी जिसमें व्यक्ति के ऊपर मर्यादा रहे, वह पूर्णतया उच्छृंखल न रहकर अनुशासित जीवन व्यतीत करें, समाज में चारों ओर ऐसा वातावरण हो जिसमें व्यक्ति गुणोत्कर्ष का, तथा आध्यात्मिक उन्नति की ओर बढ़ने का प्रयत्न करे तथा उस ओर बढ़ने में समर्थ हो, और जिस वातावरण के कारण भौतिक उन्नति की तुलना में आध्यात्मिक उन्नति श्रेष्ठ समझी जाय। अतः इस प्रकार की समाज-जीवन की व्यवस्था के लिये एक ओर तो आश्रम-व्यवस्था निर्माण की गई थी जिसमें व्यक्ति अपने प्रारम्भिक काल (ब्रह्मचर्य) में ही अनुशासित होना सीखे, यह ज्ञान प्राप्त करे कि अपने वास्तविक स्वरूप को पहिचान कर इस सांसारिक जन्म-मृत्यु के बन्धन से मुक्त होना जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है; तथा मन में उस ओर बढ़ने की लालसा भी प्राप्त करे। इस प्रकार वह जीवन के प्रारम्भिक काम में ही अपने लक्ष्य प्राप्ति की तैयारी कर फिर आगे अर्थ और काम का मर्यादित उपयोग करे (गृहस्थ) अपने जीवन में विभिन्न प्रकार से इन्द्रियसंयम करते हुए (वानप्रस्थ) परिपूर्ण निःसंगता, इच्छारहित जीवन तथा परमात्म-एकता की ओर बढ़ सके। दूसरी ओर वर्ण-व्यवस्था का निर्माण किया गया था जिसमें आदर्श के रूप में तथा सर्वश्रेष्ठ स्थान पर सतोगुणी अर्थात् धर्म की मर्यादा प्रस्थापित करने वाला ब्राह्मण प्रस्थापित किया गया था जो अपने सन्तोषपूर्ण संयमित, अनुशासित, निःस्वार्थी और चरित्र सम्पन्न जीवन से लोगों के सामने आदर्श उपस्थित कर उस आदर्श की ओर बढ़ने की प्रेरणा दे सके, और जो अपने लिये आदर्श जीवन के कारण समाज की इतनी श्रद्धा निर्माण कर सके जिससे वह समाज के अन्य लोगों को, जो अर्थ और काम के उपभोग में लगे हैं, उनके अपने-अपने धर्म पर मर्यादित करने में समर्थ हो और जो इस प्रकार सम्पूर्ण समाज को भौतिक जीवन की लालसा की तुलना में आध्यात्मिक उन्नति के मार्ग पर प्रवृत्त करने में समर्थ हो। इन दोनों व्यवस्थाओं के साथ ही लगी हुई स्त्री-धर्म की व्यवस्था थी जिसमें स्त्रियों के अधिकार और कर्त्तव्य भी उन्हें धर्म की ओर लगानेवाले तथा मोक्ष की ओर बढ़ने की प्रेरणा देनेवाले थे। साथ ही साथ राजधर्म की योजना थी जिसमें उपरोक्त धर्म-व्यवस्था का संरक्षण होकर, प्रत्येक व्यक्ति अपने अपने निश्चित कर्म करता हुआ चारों पुरुषार्थों के लिये समन्वयात्मक प्रयत्न करने में समर्थ हो।



पद्मावत में नखशिख वर्णन

डॉ० श्याममनोहर पाण्डेय

सौंदर्य के चित्रण के लिए मलिक मुहम्मद जायसी ने पदमावत में पद्मावती का नखशिख वर्णन किया है और लौकिक संकेतों से परमसौंदर्य की एक झलक देने का प्रयास किया है। उनका सादृश्य विधान प्रायः भारतीय काव्य परम्पराओं के अनुकूल है फिर भी उसमें एक प्रच्छन्न भावधारा दिखाई पड़ती है और यह विशेषता फ़ारसी के कवियों के नखशिखवर्णन में भी पाई जाती है। जायसी ने पद्मावती के सौंदर्य का अंकन करने के लिए अनेक स्थलों पर नखशिख वर्णन किया है किन्तु इस लेख में केवल दो प्रसंगों को लिया गया है। प्रथम प्रसंग पद्मावती के विवाह के पूर्व का है जिसमें शुक रतनसेन के पास जाता है और पद्मावती का रूपवर्णन करता है। द्वितीय प्रसग उस समय का है जब रतनसेन द्वारा निर्वासित किये जाने पर राघवचेतन दिल्ली पहुँचता है और अलाउद्दीन से पद्मावती के रूप सौंदर्य की प्रशंसा करता है। प्रथम नखशिख में वर्णन सिर से प्रारम्भ किया गया है और क्रमशः मांग, ललाट, भौंहों, नयनों, बरौनियों, नासिका, अधरों, मुख, दाँतो, जिह्वा, श्रवणों, भुजाओं, कुचों, पेट, पीठ, कटि, नाभि, नितम्बों आदि का वर्णन करते हुए इस प्रसग का समापन किया गया है।[1]

सिर के बालों की तुलना भ्रमरों तथा विषधर से की गई है। मांग पर अभी सिंदूर नहीं चढा है क्योंकि वह अविवाहिता है। उसके सिर पर मोती है ऐसा लगता है जैसे जमुना के बीच गगा का स्रोत चला गया है। ललाट की तुलना द्वितीया के चन्द्र से की गई है और चन्द्र से उसे श्रेष्ठ बताया गया है। उसकी भौंहें धनुष हैं। बरौनियाँ ऐसी हैं जैसे दो सेनायें बाण साधे विराजमान हों। नासिका की तुलना खड्ग से की गई है। अधर को बंधूक पुष्प कहा गया है। दाँत ऐसे हैं मानो हीरा जड़े हों या भादों मास की बिजली हो। उसकी जिह्वा मधुर है। कपोल जैसे एक नारंगी के दो टुकड़े हों। उसकी ग्रीवा क्रौंच पक्षी के सदृश है। उसकी भुजाएँ कनक दंड सदृश है। हृदय रूपी थाल पर कुच कंचन लड्डू के सदृश हैं। कुचों का सादृश्य बेल से भी दिखलाया गया है। उसकी कटि से सिंह की कटि भी मुकाबला नहीं कर सकती।

रूप वर्णन का द्वितीय प्रसंग भी सिर पर स्थित केश-राशि के वर्णन से प्रारंभ होता है। माँग का वर्णन करते हुए यहाँ सिंदूर की रेखा का भी चित्रण है क्योंकि पद्मावती अब विवाहिता है। पूर्व प्रसंग की भाँति कवि यहाँ भी क्रमशः ललाट, भौहों, नेत्रों, बरौनियों, नासिका, अधरो, दाँतों, जिह्वा, कपोलों, श्रवणों, भुजाओं, कुचों, पेट, कटि, पीठ तथा नाभि का वर्णन करता है।[2]

---

१. देखिये, पदमावत—छंद ९९ से ११८ तक

२ देखिये छंद ४६८ से ४८८ तक

नखशिख वर्णन के ये दोनों प्रसंग सादृश्य-विधान और उत्प्रेक्षाओं की दृष्टि से प्रायः समान हैं। वर्णन-विस्तार में अन्तर अवश्य दिखाई पड़ता है। किन्तु दोनों वर्णनों में जो एक विशेष बात परिलक्षित होती है, वह है जायसी की आध्यात्मिक दृष्टि। लौकिक चित्रण के मध्य वह अपने अलौकिक संकेतो की एकसूत्रता बनाये रखने की चेष्टा करते हैं।

जायसी की आध्यात्मिक दृष्टि

जिस समय पद्मावती अपने बालों को खोलती है, उस समय स्वर्ग और पाताल में अंधकार छा जाता है।[1] तपस्वी अपने को इसलिये चिरवाते हैं, कि सम्भवतः उनके रक्त से वह सिंदूर लगाले।[2] इससे स्पष्ट है कि पद्मावती को प्राप्त करने के लिए तप करना पड़ता है। उसका मस्तक द्वितीया के चन्द्र की भाँति सुशोभित है बल्कि सूर्य भी उसके प्रकाश के सामने छिप जाता है। चाँद में कलंक है वह कलंक रहित है।[3]

पद्मावती की भौंहें काल सदृश हैं। वह एक साधारण नारी नहीं है। वह एक ईश्वरीय शक्ति है। उसकी भकुटि के विशेष से रहा। ही वेहा धनुष कृष्ण और राम के पास भी था जिससे उन्होंने रावण का वध किया।[4] इस प्रकार जायसी ने यह संकेत किया है कि पद्मावती, राम और कृष्ण एक ही तत्त्व के भिन्न-भिन्न रूप हैं। पद्मावती, के नेत्र भी साधारण नहीं हैं, उनके चचल होने से समस्त संसार विचलित हो उठता है।[5] अपनी बरौनियों से उसने सम्पूर्ण संसार को बेध रखा है। आकाश के नक्षत्र, जिनकी गणना नहीं हो सकती, उसके बाण से बिद्ध हैं। पद्मावती अपने बाणों से धरती को भी बिद्ध कर रखा है, जितने वृक्ष खड़े हैं सब उसकी साक्षी दे रहे हैं। मनुष्य के रोम-रोम में उसका ही बाण बिंधा हुआ है।[6] उसके हँसने से सारा संसार उज्ज्वल हो उठता

---

१. बेनी छोरि झार जौं मारा। सरग पतार होई अँधियारा॥
—पदमावत, छंद ९९

२. करवत तपा लेंहि होइ चूरू। मकु सो रुहिर लै देइ सेंदूरू॥
—पदमावत, छंद १००

३. सहस करां जो सुरुज दिपाई। देखि लिलाट सोउ छपि जाई॥
का सरवरि तेहि देउं मयंकू। चांद कलंकी वह निकलंकू॥
—पदमावत, छंद १०१

४. उहै धनुक उन्ह भौंहन्ह चढ़ा। केइ हतियार काल अस गढ़ा।
उहै धनुक किरसुन पहँ अहा। उहै धनुक राघौ कर गहा॥
उहै धनुक रावन संघारा। उहै धनुक कंसासुर मारा॥
—पदमावत, छंद १०२

५. जग डोलै डोलत नैनाहाँ। उलटि अडार चाह पल माहाँ॥
—पदमावत, छंद १०३

६. उन्ह बानन्ह अस को को न मारा। बेधि रहा सगरौं संसारा॥
गँगन नखत अस जाहिं न गने। हैं सब बान ओहि के हने॥
धरती बान बेधि सब राखी। साखा ठाढ़ि देहिं सब साखी॥
रोवँ रोवँ मानुष तन ठाढ़े। सोतहि सोत बेधि तन काढ़े॥
छंद १०४

जिस दिन उसके दाँतों की ज्योति का निर्माण हुआ, उस ज्योति से बहुत-सी ज्योतियो का ण हुआ। चन्द्रमा-सूर्य तथा नक्षत्रों को उसने ज्योति दी है। रत्न, माणिक्य और मोती मे ा ही प्रकाश है। जहाँ-जहाँ वह स्वाभाविक रूप से हँसती है, तहाँ-तहाँ ज्योति प्रकट होकर र जाती है।[2] चारों वेदों का ज्ञान उसके पास है। ऋग्वेद, यजुर्वेद, साम तथा अथर्ववेद से वह चत है। उसके एक-एक बोल में चौगुना अर्थ है जिससे इन्द्र और ब्रह्मा सिर धुनते है।[3]

बहुत से राजा तपकर मर गये पर पद्मावती प्राप्त नहीं हुई। उसके कुचों को कोई ही सका और सब हाथ मलते रह गये।[4] इससे आध्यात्मिक संकेत स्पष्ट हो जाता है। ारण तप करने पर भी पद्मावती का प्राप्त हो सकना संभव नहीं है। इस तप का महत्व जायसी र भी स्पष्ट किया है और कहा है कि पद्मावती की प्राप्ति के लिए हिमालय जैसा तप आवश्यक उसकी सुगंधि मे संसार बँधा हुआ है।[6] देवता उसके चरण हाथों से उठा लेते हैं, जहाँ उसका डता है वहाँ वे शीश देते हैं।[7]

उसका सौंदर्य अद्वितीय है। संसार में कोई भी व्यक्ति ऐसा नहीं है जिसको उसकी तुलना मे

---

१. बिहंसत जगत होइ उजियारा।—पदमावत, छंद १०६

२. जेहि दिन दसन जोति निरमई। बहुतन्ह जोति जोति ओहि भई॥
रवि ससि नखत दीन्हि ओहि जोती। रतन पदारथ मानिक मोती॥
जहँ जहँ बिहँसि सुभावहि हंसी। तहँ तहँ छिटकि जोति परगसी॥

—पदमावत, छंद १०७

३. चतुरबेद मति सब ओहि पाहाँ। रिग जजुसाम अथर्बन माहाँ॥
एक एक बोल अरथ चौगुना। इन्द्र मोह बरम्हा सिर धुना॥
अमर भारथ पिंगल औ गीता। अरथ जूझ पंडित नहीं जीता॥
भावसती व्याकरन सरसुती पिंगल पाठ पुरान।
बेद भेद सैं बात कह तस जनु लागहि बान॥

—पदमावत, छंद १०८

४. राजा बहुत मुए तपि लाइ लाइ भुइँ माथ।
काहूँ छुअँ न पारे गए मरोरत हाथ॥ —पदमावत, छंद ११३

५. को ओहि लागि हिवंचल सीझा। का कहँ लिखी अैस को रीझा॥

—पदमावत, छंद ११६

६. बेधि रहा जग वासना परिमल भेद सुगंध।
तेहि अरधानि भंवर सब लुबुधे तजहि न नीबी बंध॥

—पदमावत, छंद ११७

७. देवता हाथ हाथ पगु लेहीं। पगु पर जहाँ सीस तहँ देहीं॥
माँथें भाग को दहुँ अस पावा। कंवल चरन लै सीस चढ़ावा॥

छंद ११८

बैठाया जा सके राजा रत्नसेन शुक से पद्मावती का सौंदर्य सुनकर मूर्च्छित हो जाता है और उसे प्रेम का गहरा घाव लग जाता है।[1]

नखशिख वर्णन के अन्तर्गत कवि ने जो अलौकिक संकेत दिये है, उनसे उसकी अन्तर्दृष्टि और भाव-गाम्भीर्य पर प्रकाश पड़ता है। पद्मावती ईश्वरीय सौंदर्य है इसलिये उसके चित्रण मे पारलौकिकता का अपूर्व मिश्रण है। शुक पद्मावती के रूप का स्थूल वर्णन कर संतोष नही करता बल्कि उस दिव्य सौन्दर्य का भी स्पष्टीकरण करता है, जिससे संपूर्ण संसार को ज्योति प्राप्त होती है। राघवचेतन ने अलाउद्दीन से पद्मावती का जो रूप-सौंदर्य वर्णित किया है, उसमे भी आध्यात्मिकता की अन्तःसलिला प्रवाहित होती दिखाई पड़ती है। सूर्य की कांति तथा निर्मल नीर की भाँति उसका शरीर निर्मल है। उसको कोई सामने देख नहीं पाता। देखने पर आँखो मे पानी भर आता है।[2] उसका सिंदूर देखकर देवता बलि हो जाते हैं। नित्य प्रातः उगता हुआ सूर्य उस माँग की पूजा करता है। प्रातः और संध्या के सूर्य की जो लाली हैं, वह उसके सिंदूर से प्राप्त की गई है।[3] सूर्य और शशि जो इतने निर्मल हैं, उसी ललाट के कारण हैं।[4] उसके अधर मे प्रेम का रस भरा हुआ है किन्तु उसके बीच अलक रूपी भुजंगिनी लटकी हुई है। जब इस सर्पिणी से कोई मुक्ति पा जाय तब वह अधर का रसपान कर सकता है।[5] राघवचेतन यह भी कहता है, उसके दाँतों की ज्योति नयन के रास्ते से हृदय में पैठ गई इस कारण बाहर अँधेरा दिखाई पडने लगा और केवल उसी पर दृष्टि पड़ने लगी।[6] उसके कंठ से शारदा विमुग्ध हो उठती है। सरस्वती की जीभ उसके समक्ष कुछ भी नहीं है। इन्द्र, चन्द्र, सूर्य, तथा और देवता उसके मुख की इच्छा करते हैं।[7]

---

१. सुनतहि राजा गा मुरुछाई। जानहुँ लहरि सुरुज कै आई।।
पेम छाव दुख जान न कोई। जेहि लागे जानै पै सोई।।
—पदमावत, छंद ११९

२. सुरुज काँति करा जसि निरमल नीर सरीर।
सौंह निरखि नहिं जाइ निहारी नैनन्ह आवैं नीर।। —पदमावत, छंद ४६८

३. बलि देवता भए देखि सेंदुरू। पूजै माँग भोर उठि सूरू।।
भोर साँझ रवि होइ जो राता। ओहीं सो सेंदुर राता गाता।।
—पदमावत, छंद ४७१

४. ससि और सूरजो निरमल तेहि ललाट की ओप।
निसि दिन चलहिं न सरवरि पावहिं तपि तपि होंहि अलोप।।
—पदमावत, छंद ४७२

५. अधर धरहिं रस प्रेम का अलक भुअंगिनि बीच।
तब अंब्रित रस पाउ पिउ ओहि नागिनि गहि खींचु।। —पदमावत, छंद ४७६

६. दसन जोति होइ नैन पँथ हिरदै माँझ बईठि।
परगट जग अँधियार जनु गुपुत ओहि पै डीठि।। —पदमावत, छंद ४७७

७. कंठ सारदा मोहहिं जीभ सुरसती काह।
इन्द्र चन्द्र रवि देवता सब जगत मुख चाह छंद ४७८

अलाउद्दीन भी पद्मावती के रूप सौंदय की चचा सुनकर मूर्च्छित हो जाता है एसा लगता है वह मूर्ति उसके हृदय म प्रकट हो गइ और दशन दकर छिप गई।[1]

फारसी के कवियों का नखशिख वर्णन

फ़ारसी के कवियो ने भी नखशिख वर्णन किया है और उनकी कल्पनाएँ और उद्भावनाएँ हिन्दी के सूफी कवियों से भिन्न हैं। निज़ामी ने "शीरीं खुसरो" में शीरीं का नखशिख वर्णन किया है। निज़ामी ने शीरीं की तुलना चाँद और परी से की है। शीरीं एक परी थी।[2] वह महताब की भाँति जवानी की रात को रोशन करनेवाली थी और उसकी काली आँखें अमृत की भाँति थीं।[3] उसका क़द बाग के सरो शोभा क (एक पतला वृक्ष) की तरह खींचा हुआ था। वह गम से बेपरवाह थी और उसने आफ़त को नहीं देखा था।[4] उसका क़द खींचा हुआ था और वह चाँदी के वृक्ष की भाँति थी। उसकी दोनों काली जुल्फें उसके शरीर पर ऐसी लटक रही थीं कि जैसे दो हबसी आदमी छुहारे चुन रहे हों।[5] उसके दाँतों की मोती नूर की तरह थी और सीप को उसने दूर से दाँत की चमक दे दी थी।[6] मिश्री उसके मधुर होठों से इर्ष्या करती थी और हलवा भी उसकी मिठास के आगे फीका था।[7] वह अपने जादू से दिलों की आग को तेज करती थी और उसके ओठ अत्यन्त नमकीन थे। पर इसमें शकर टपकती थी।[8] उसके दोनों होठ अक़ीक पत्थर की भाँति थे, उनमें रौनक थी।[9]

---

१. राघौ जौं धनि बरनि सुनाई। सुना साह मुरछा गति आई॥
जनु मूरति वह परगट भई। दरस देखाइ तबहिं छपि गई॥ —पदमावत, छंद ४८६

२. परी दोख्ते परी बगुज़ार माहे।
बज़ेरे मक़न साहब कुलाहे॥—शीरीं खुसरो, पृष्ठ २०, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ

३. शब अफ़रोज़े चो महताबे जवानी।
सियह चश्मे चो आबे जिन्दगानी॥—वही, पृष्ठ २०

४. क़दे चूं सरे बोस्तां बर कशीदा।
ज़े गम आशुदाव आफ़ताब न दीदा॥—वही, पृष्ठ २०

५. कशीदा क़ामत चूँ नख़लसिमी।
दो ज़ंगी बरसरे नखलश सतुबचीं॥—वही, पृष्ठ २०

६. ब मरवारीद दंदा हाये चू नूर।
सदक रा आबदंदा दादा अज़दूर॥—वही, पृष्ठ २०

७. न बात अज़ रश्के आं शकर गुरेज़।
लब राज़द दरम्यां ओफ्तां व खेज़ां॥—वही, पृष्ठ २०

८. बसेहरे फातिश दिलसा कूनद तेज़।
लबश रा सदनमक हलक शकररेज़॥

९. दो शकर चूं अक़ीक आब दादा।
दो गेसू चू कमर —वही पृष्ठ २०

उसकी पिंगल लटा ने चमक दिल से खींची है। लगता है, बालछड़ घास पर फूल उगे हुए हैं।[1] उसने अपनी आँखो को जादूगर बना लिया है और अपने जादू से बदन जरी का मुँह बंद कर दिया है।[2] उसके अधरों पर मुस्कान का लावण्य रहता है। पर इस नमक में मधुरता है।[3] उसकी नाक चाँदी की एक तलवार है। उस तलवार ने सेव के दो टुकड़े किये है।[4] उसके हरनाज में एक अदा है। उसकी ठोडी सेव की भाँति है और उसका गबगंब (ठोड़ी के नीचे का हिस्सा) तुरंज (नारंगी) की भाति है।[5] उसके दोनों कुच चांदी के दो उठे हुए अनार हैं जिनपर फूलों के हार पड़े हुए हैं।[6] उसके चेहरे पर इतनी रोशनी है कि सितारों की गति रुक गई है और सूर्य तथा चाँद की रोशनी फीकी पड़ गई है।[7] उसकी गर्दन को हरिण ने अपनी गर्दन बना ली है। उसने आँखों के पानी से अपना दामन धोया है।[8] हरिण की आँखों की भाँति उसकी आँख शहद का चश्मा है जिससे शेर अफगनों को मदहोशी की नींद आ जाती है।[9] लोगों को मार डालने का हुक्म देने के लिए उसने दस कलमें (अंगुलियां) रखी हैं।[10] उसके जुल्फ का छोर नाज और दिलबरी से भरा हुआ था और उसमें याकूत (एक सुर्ख रंग का पत्थर) तथा मोती जड़े हुए थे।[11]

---

१. खमे गेसू वश ताब अज दिल कशीदा।
   अें सुंबुले सब्ज गुलरा बरदमीदा॥
२. फुंसूगर करदा वर खुद चश्मे खुद रा।
   जवाँ बस्ता बाफसूं चश्मे वद रा॥
३. नमक दारद लबश दरखंदा पैवस्त।
   नमक शीरीं न बाशद लैक उ हस्त॥
४. तू गोई बीनी अश तेगेस्त अज सीम।
   के करद आंतेग सेबे रा बदोनीम॥
५. मोअकिल करदा बरहर गमजा गुंजे।
   जनख चूँ सेब गबगब चूं तुरंजे॥
६. दो पिस्ताँ चूं दो सीमी नार नव खेज।
   बरा पिस्ताँ गुले बुस्ताँ दिरम रेज।
७. रुखश तकवीमे अंजुम जदा रा।
   फशान्दा दस्त बरखूरशीद व बरमा॥
८. निहादा गर्दने आहू गर्दनश रा।
   ब आबे चश्म शुस्ता दामनश रा॥
९. बचश्मे आहुवां आं चश्मये नोश।
   देहद शेर अफगना रा खाबे खरगोश।
१०. बफरमाने के खाहद खल्क रा कुश्त।
   बदहस्तश दह कलम याने दह अंगुस्त॥
११. सरे जुल्फश जे नाजो दिलबरी पुर।
   लबो ब दानश यक्र याकूत बक्र दूर —शीरीं खुसरो पृष्ठ २१

निज़ामी की भांति जामी ने भी अपनी मसनवी यूसुफ़ जुलेखा मे जुलेखा का नखशिख वर्णन किया है।[1] उसका क़द ताड़ के वृक्ष के सदृश था।[2] चांदी के पत्र की भाँति उसका मस्तक है।[3] फ़ारसी के 'अलिफ' शब्द की भाँति उसकी रजत नासिका है।[4] उसकी आकृति ईरान के उद्यानों की भाँति थी जिसमें रंग-बिरंगे गुलाब खिले रहते थे।[5] उस पर काला तिल लग रहा था। उसकी गर्दन हाथी के दाँत की भाँति थी।[6] उसकी भुजाएँ लम्बी थीं।[7] नरकट की भाँति उसकी कोमल अंगुलियाँ थीं जिनसे वह प्रेमियों के हृदय पर प्रेम को अंकित किया करती थी।[8] इन अगुलियों पर नख इतने लम्बे सुन्दर थे कि ऐसा लगता था कि पूर्ण चन्द्र विकसित हो।[9] उसके पाँव इतने हल्के और लचीले थे कि कोई भी सजी हुई गेंदिका उसका मुकाबला नहीं कर सकती थी।[10]

मलिक मुहम्मद जायसी से तुलना

महाकवि निज़ामी और जामी के नखशिख वर्णनों की समीक्षा से यह स्पष्ट है कि इन कवियों ने जो उपमाएँ या उत्प्रेक्षाएँ ग्रहण की हैं, उन्हें जायसी ने कम अपनाया है। कवि ने भ्रमर, वासुकि, जमुना, सरस्वती, शुक, दामिनी, चन्द्र, नारंगी, कौंच, श्रीफल आदि से नायिकाओं के अगों का सादृश्य विधान किया है। निज़ामी ने शीरी के क़द की सरो के वृक्ष से तुलना की है। होठों की उपमा अक़ीक पत्थर से दी है। नाक को चांदी की तलवार कहा है तथा कुचों को चांदी का अनार बताया है। भारतीय साहित्य में ये कल्पनाएँ नहीं पाई जातीं। जायसी ने भी सादृश्य विधान के लिए प्रायः भारतीय परम्पराओं को ग्रहण किया है।

किन्तु फारसी के सूफी कवि निज़ामी और जामी ने अपनी नायिकाओं को जिस प्रकार अलौकिक सौंदर्य प्रदान किया है और उनकी शोभा के समक्ष संसार की सुंदरता को फीका बतलाया है, उसी प्रकार जायसी भी अपनी नायिका को दैवी धरातल पर प्रतिष्ठित करते हैं। पद्मावती का-सा सौंदर्य न चाँद में है और न सूर्य में है और न संसार के किसी अन्य पदार्थ में है। वह अलौकिक सौंदर्य का प्रतीक बन जाती है। निज़ामी और जामी भी अपनी नायिकाओं को सामान्य धरातल पर नहीं रहने देते और उन्हें दैवी सौंदर्य का प्रतीक बना देते हैं। निज़ामी की शीरी के रुख ने सितारों

---

१. यूसुफ जुलेखा—अंग्रेजी अनुवाद ग्रिफिथ, पृष्ठ ४०, लंदन १८८२
२. वही—पृष्ठ ४०
३. वही—पृष्ठ ४०
४. वही—पृष्ठ ४१
५. वही—पृष्ठ ४१
६. वही—पृष्ठ ४१
७. वही—पृष्ठ ४२
८. वही—पृष्ठ ४२
९. वही—पृष्ठ ४२
१० वही ४३

के रास्ते को बंद कर दिया है और सूर्य तथा चांद पर हाथ फेर लिया है एक रात में सौ से अधिक व्यक्ति उसको स्वप्न में देखते थे पर रात में जिस प्रकार सूर्य नहीं मिलता, वह भी प्राप्त नहीं होती थी।[२] उसके तिल के सौंदर्य को देखकर चाँद कहता है कि यह मेरा तिल है और रात इस तिल के लिये फाल (नेकशकुन) की किताब पढ़ रही है।[३]

जामी 'जुलेखा' के दीप्त कपोलों से प्रकाश उधार माँगते हैं ताकि वह बोल सकें और उसके प्रकाशमान मुख से शक्ति माँगते हैं कि वह जो जानते हैं, कह सकें।[४] अत: जामी ने जुलेखा में भी दैवी सौंदर्य और शक्ति की प्रतिष्ठा की है। मलिक मुहम्मद जायसी ने इस परम्परा को अधिक विस्तार दिया है और अपने नखशिख-वर्णन में पद्मावती को पदे-पदे अलौकिक व्यक्तित्व प्रदान किया है।

---

१. रुखश तकबीमे अंजुम जदा रा।
फशान्दा दस्त बरखुरशीद व बरमा।। शीरीं खुसरो, निजामी, पृष्ठ २१

२. शबे शतकस फजूं बीनद बख्वाबश।
न बीनद शब कसे चूं आफताबश।।

३. महअज खूबीयश खुदरु खालखांदा।
शब अज खालश किताबे फाल खान्दा।।

४. Like her own bright hair falling loosely down,
I will touch each charm to her feet from her crown.
May the soft reflexion of that bright cheek,
Lend light to my spirit and bid me speak,
And that flashing ruby, her month, bestow.
The power to tell of the things I know.
—यूसुफ जुलेखा जामी अनुवादक ग्रिफिथ पृष्ठ २० लंदन १८८२

रजिस्ट्रार न्यूज़ पेपर्स ऐक्ट के नियम के अन्तर्गत विज्ञप्ति

शन का नाम	"हिंदुस्तानी"
शन की तिथि	त्रैमासिक (जनवरी, अप्रैल, जुलाई, अक्तूबर)
; का नाम	सम्मेलन मुद्रणालय, प्रयाग
ोयता	भारतीय
	ालय, प्रयाग

ाद

०,

०,

ाद

ाद

श

